CHRONICLE
Nurturing Talent Since 1990

UPSC & STATE PSCs

दर्शनशास्त्र

प्रश्नोत्तर रूप में

आईएएस मुख्य परीक्षा अध्यायवार हल प्रश्न-पत्र 2008-2023

1997–2007 अध्यायवार हल प्रश्न–पत्र
chronicleindia.in पर निःशुल्क उपलब्ध

दर्शनशास्त्र

प्रश्नोत्तर रूप में

आईएएस मुख्य परीक्षा अध्यायवार हल प्रश्न-पत्र 2008-2023

वर्ष 2008 से पूर्व के हल प्रश्न-पत्रों के अध्ययन हेतु आप chronicleindia.in पर विजिट कर सकते हैं; ये प्रश्न-पत्र पाठकों के लिए निःशुल्क उपलब्ध हैं।

यह पुस्तक संघ लोक सेवा आयोग की सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के वैकल्पिक विषय के साथ-साथ राज्य लोक सेवा आयोगों की मुख्य परीक्षाओं तथा अन्य समकक्ष प्रतियोगी परीक्षाओं हेतु भी समान रूप से उपयोगी है।

- पुस्तक में प्रश्नों के उत्तर को मॉडल हल के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रश्नों को हल करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि उत्तर सारगर्भित हों तथा पूछे गए प्रश्नों के अनुरूप हों।
- इस पुस्तक में प्रश्नों से संबंधित अन्य विशिष्ट जानकारियों को भी उत्तर में समाहित किया गया है, ताकि अभ्यर्थी इसका उपयोग न सिर्फ हल प्रश्न-पत्र के रूप में, बल्कि अध्ययन सामग्री के रूप में भी कर सकें।
- इस पुस्तक का उपयोग अभ्यर्थी अपनी उत्तर लेखन शैली में सुधार लाने तथा प्रश्नों की प्रवृत्ति व प्रकृति को समझने के लिए भी कर सकते हैं।

संपादकः एन. एन. ओझा

हलः क्रॉनिकल संपादकीय समूह

CHRONICLE
Nurturing Talent Since 1990

अनुक्रमणिका

■ **दर्शनशास्त्र मुख्य परीक्षा 2023 हल प्रश्न-पत्र-I** 1-12

■ **दर्शनशास्त्र मुख्य परीक्षा 2023 हल प्रश्न-पत्र-II** 13-23

प्रथम प्रश्न-पत्र

दर्शन का इतिहास एवं समस्याएं

1. **प्लेटो एवं अरस्तू**..... 01-11
   प्रत्यय, द्रव्य, आकार एवं पुद्गल, कार्यकारण भाव, वास्तविकता एवं शक्यता

2. **तर्कबुद्धिवाद (देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनिज)**... 12-26
   देकार्त की पद्धति एवं असंदिग्ध ज्ञान, द्रव्य, परमात्मा, मन-शरीर द्वैतवाद, नियतत्ववाद एवं स्वातंत्र्य

3. **इंद्रियानुभववाद (लॉक, बर्कले, ह्यूम)**..... 27-38
   ज्ञान का सिद्धांत, द्रव्य एवं गुण, आत्मा एवं परमात्मा, संशयवाद

4. **कांट: संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभाव्यता**..... 39-47
   दिक् एवं काल, पदार्थ, तर्कबुद्धि प्रत्यय, विप्रतिषेध परमात्मा के अस्तित्व के प्रमाणों की मीमांसा

5. **हीगेल**..... 48-51
   द्वंद्वात्मक प्रणाली, परमप्रत्ययवाद

6. **मूर, रसेल एवं पूर्ववर्ती विट्गेंस्टीन**..... 52-61
   सामान्य बुद्धि का मंडन, प्रत्ययवाद का खंडन, तार्किक परमाणुवाद, तार्किक रचना, अपूर्ण प्रतीक, अर्थ का चित्र सिद्धांत, उक्ति एवं प्रदर्शन

7. **तार्किक प्रत्यक्षवाद**..... 62-67
   अर्थ का सत्यापन सिद्धांत, तत्वमीमांसा का अस्वीकार, अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति का भाषिक सिद्धांत

8. **उत्तरवर्ती विट्गेंस्टीन**..... 68-75
   अर्थ एवं प्रयोग; भाषा-खेल: व्यक्ति भाषा की मीमांसा

9. **संवृतिशास्त्र (हुसर्ल)**..... 76-81
   प्रणाली, सार सिद्धांत, मनोविज्ञानपरता का परिहार

10. **अस्तित्वपरकतावाद (कीर्कगार्द, सार्त्र, हीडेगर)**..... 82-92
    अस्तित्व एवं सार, वरण, उत्तरदायित्व एवं प्रामाणिक अस्तित्व, विश्वनिसत् एवं कालसत्ता

11. **क्वाइन एवं स्ट्रॉसन**..... 93-101
    इंद्रियानुभववाद की मीमांसा, मूल विशिष्ट एवं व्यक्ति का सिद्धांत

12. **चार्वाक**..... 102-110
    ज्ञान का सिद्धांत, अतींद्रिय सत्वों का अस्वीकार

13. **जैन दर्शन**..... 111-120
    सत्ता का सिद्धांत, सप्तभंगी न्याय, बंधन एवं मुक्ति

14. **बौद्ध दर्शन**..... 121-137
    प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद

15. **न्याय-वैशेषिक**..... 138-153
    पदार्थ सिद्धांत, आभास सिद्धांत, प्रमाण सिद्धांत, आत्मा मुक्ति, परमात्मा, परमात्मा के अस्तित्व के प्रमाण, कार्यकारण-भाव का सिद्धांत, सृष्टि का परमाणुवादी सिद्धांत

16. **सांख्य**..... 154-165
    प्रकृति, पुरुष, कार्यकारण-भाव, मुक्ति

17. **योग**..... 166-170
    चित्त, चित्तवृत्ति, क्लेश, समाधि, कैवल्य

18. **मीमांसा**..... 171-178
    ज्ञान का सिद्धांत

19. **वेदांत संप्रदाय**..... 179-195
    ब्रह्मन, ईश्वर, आत्मन, जीव, जगत, माया, अविद्या, अध्यास, मोक्ष, अपृथक सिद्धि, पंचविधभेद

20. **अरविंद**..... 196-202
    विकास, प्रतिविकास, पूर्ण योग।

द्वितीय प्रश्न-पत्र

सामाजिक-राजनैतिक दर्शन

1. **सामाजिक एवं राजनैतिक आदर्श** 203-213
   समानता, न्याय, स्वतंत्रता
2. **प्रभुसत्ता** 214-221
   आस्टिन, बोदां, लास्की, कौटिल्य
3. **व्यक्ति एवं राज्य** 222-231
   अधिकार, कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व
4. **शासन के प्रकार** 232-242
   राजतंत्र, धर्मतंत्र एवं लोकतंत्र
5. **राजनैतिक विचारधाराएं** 243-255
   अराजकतावाद, मार्क्सवाद एवं समाजवाद
6. **मानववाद** 256-271
   धर्मनिरपेक्षतावाद, बहुसंस्कृतिवाद
7. **अपराध एवं दंड** 272-282
   भ्रष्टाचार, व्यापक हिंसा, जातिसंहार, प्राणदंड
8. **विकास एवं सामाजिक उन्नति** 283-284
9. **लिंग भेद** 285-297
   स्त्री भ्रूण हत्या, भूमि एवं संपत्ति अधिकार, सशक्तीकरण
10. **जाति भेद** 298-301
    गांधी एवं अंबेडकर

धर्म दर्शन

1. **ईश्वर की धारणा** 302-306
   गुण, मनुष्य एवं विश्व से संबंध (भारतीय एवं पाश्चात्य)
2. **ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण और उसकी मीमांसा** 307-326
   भारतीय एवं पाश्चात्य
3. **अशुभ की समस्या** 327-332
4. **आत्मा** 333-344
   अमरता, पुनर्जन्म एवं मुक्ति
5. **तर्कबुद्धि, श्रुति एवं आस्था** 345-352
6. **धार्मिक अनुभव** 353-359
   प्रकृति एवं वस्तु (भारतीय एवं पाश्चात्य)
7. **ईश्वर रहित धर्म** 360-364
8. **धर्म एवं नैतिकता** 365-381
   धार्मिक शुचिता एवं परम सत्यता की समस्या
9. **धार्मिक शुचिता एवं परम सत्यता की समस्या** 382-383
10. **धार्मिक भाषा की प्रकृति** 384-394
    सादृश्यमूलक एवं प्रतीकात्मक, संज्ञानवादी एवं निस्संज्ञानवादी

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा 2023

दर्शनशास्त्र

(प्रथम प्रश्न-पत्र)

खंड-A

प्लेटो एवं अरस्तू

प्रश्न: अरस्तू के वास्तविकता तथा शक्यता के बीच प्रभेद की व्याख्या प्रस्तुत कीजिए। क्या यह प्राचीन ग्रीक दर्शन में प्रस्तुत सत् तथा संभवन की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है? उचित उदाहरणों सहित व्याख्या कीजिए।

उत्तर: अरस्तू के अनुसार तत्वमीमांसा सत् के सर्वोच्च सिद्धांतों की गवेषणा है। सत् का प्रत्यय अनुभवातीत है। यह किसी भी प्रकार के वर्गीकरण से ऊपर है। हम ऐसा नहीं कह सकते कि आध्यात्मिक सत् तथा मूर्त सत् विभिन्न प्रकार के सत् हैं। परन्तु देह और आत्मा समान अर्थ में सत् हैं। सत् को सदृश कहा गया है। प्रत्येक वस्तु किसी न किसी अर्थ में सत् का निरूपण करती है: एक स्वस्थ व्यक्ति, एक स्वस्थ प्रभाव, एक स्वस्थ अभिलाषा इत्यादि।

- सत् के प्रत्यय अरस्तू कुछ स्वत: प्रमाणित नियम विकसित करते हैं:
  - **व्याघात का नियम :** कोई भी वस्तु एक ही देश तथा काल में समान परिस्थितियों में अस्तित्ववान तथा अनस्तित्ववान दोनों ही नहीं हो सकती है। एक ही वस्तु का होना और न होना असंभव है।
  - **तादात्म्य का नियम:** प्रत्येक वस्तु जो वह है, वह है। अर्थात जो है वह है और जो नहीं, वह नहीं है।
  - **मध्य परिहार का नियम:** इसमें किसी वस्तु का होना या न होना सुनिश्चित होता है। यह स्पष्ट है की यदि हम एक विकल्प को स्वीकार करे, तो दूसरे विकल्प को अस्वीकार करना होगा।
- निर्धारण के क्रम में वास्तविकता एवं संभाव्यता सत् के प्रथम सिद्धांत है। वास्तविकता पूर्णता को सूचित करती है, जबकि संभाव्यता पूर्णता की क्षमता है। यह उस पूर्णता को ग्रहण करने की क्षमता को सूचित करता है, जो वर्तमान में वस्तुत: प्राप्त नहीं है।
- प्रत्येक अस्तित्वान सत् अपने वर्तमान अस्तित्व की पूर्णता को धारण करता है: वास्तव में यह वह है जो यह है। यह कुछ और होने के लिए संशोधित हो सकता है। इस कुछ और की ओर, इस नवीन तात्विक अथवा आकस्मिक पूर्णता की ओर, अस्तित्ववान सत् सामर्थ्यवान है।

अतएव हम कह सकते हैं कि प्रत्येक अस्तित्ववान सत् वास्तविक रूप में वह है जो यह है, परतु संभाव्य: वह है जो यह हो सकता है। समभाव्यता केवल अमूर्त रूप से अस्तित्ववान नहीं रहती है; यह सदैव ही एक विशिष्ट वास्तविकता के लिए संभाव्यता है।

तर्कबुद्धिवाद (देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनिज)

प्रश्न: "उस वस्तु को स्वतंत्र कहा जा सकता है जो केवल अपने स्वरूपवश अनिवार्यत: अस्तित्ववान हो, और जो स्वयमेव कृत्यप्रति नियतिबद्ध हो।" इस कथन के आलोक में स्पिनोजा के नियतत्ववाद तथा स्वातंत्र्य संबंधी विचारों की विवेचना कीजिए।

उत्तर: स्पिनोजा के नियतत्ववाद एवं स्वातंत्र्य के अनुसार ईश्वर ही एकमात्र द्रव है और प्रकृति के साथ इसका तादात्म्य सम्बन्ध है। ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है। इनके सम्बन्ध में स्पिनोजा नियतिवादी हैं परन्तु उनका यह नियतिवाद बाह्य नियतिवाद न होकर आतंरिक नियतिवाद है।

- **ईश्वर में बाह्य नियतिवाद नहीं हो सकता है-**
  - क्योंकि ईश्वर में परतंत्रता का भाव उत्पन्न हो जाएगा।
  - ईश्वर से अलग किसी भी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है।
- स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर के कार्यों में आंतरिक नियतिवाद है क्योंकि वह स्वयं संचालित नियमों के द्वारा ही शासित होता है। ईश्वर वही करता है, जो उसके स्वभाव के अनुकूल है और इस रूप में ईश्वर स्वतंत्र है।
- स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छंदता अर्थात कुछ भी कार्य करने की छूट मानी जाए तो फिर वैसी स्थिति में ईश्वर को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ईश्वर भी अपने आतंरिक नियमों से बंधा है। इस प्रकार यहाँ आतंरिक अनिवार्यता स्वतंत्रता को इंगित करती है।
- स्पिनोजा के नियतिवाद के अनुसार विश्व की सभी घटनाएँ और प्रत्येक वस्तु पहले से ही नियत है, जो कुछ भी विश्व में हो रहा है वह अवश्यम्भावी है। किसी सांसारिक घटना का क्रम बदला नहीं जा सकता है। स्पिनोजा के अनुसार प्रकृति में कहीं कोई आकस्मिकता नहीं है। ईश्वरीय प्रकृति की अनिवार्यता से सभी वस्तुएं अपने अस्तित्व और क्रिया में नियत हैं।
- स्पिनोजा के अनुसार स्वच्छंदता के सन्दर्भ में स्वतंत्रता न तो ईश्वर में हैं और न ही मानव में। ईश्वर में स्वत्रंत्रता नहीं है क्योंकि वह अपने स्वभाव से विवश है। मनुष्य में भी इच्छा स्वतंत्र नहीं है।

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा 2023

दर्शनशास्त्र

(द्वितीय प्रश्न-पत्र)

खंड-A

सामाजिक एवं राजनैतिक आदर्श

प्रश्न: निष्पक्षता के रूप में न्याय से क्या अभिप्राय है? रॉल्स के न्याय के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

उत्तर: न्याय-संबंधी जॉन रॉल्स की अवधारणा के दो पहलू हैं। प्रथम, वह एक "संवैधानिक लोकतंत्र" की मांग करती है, यानी कानूनों की सरकार और वो ऐसी हो जो वश में हो, जवाबदेह हो और जिम्मेवार हो। दूसरे, वह ''एक निश्चित रीति से" मुक्त अर्थव्यवस्था के नियमन में विश्वास करती है।

- "यदि कानून व सरकार", रॉल्स लिखते हैं, "बाज़ार को प्रतिस्पर्धात्मक रखने, संसाधनों को पूरी तरह नियोजित रखने, सम्पत्ति व संवृद्धि व्यापक रूप से समयोपरि वितरित कर देने एवं उचित सामाजिक न्यूनातिन्यून को कायम रखने हेतु प्रभावी रूप से काम करते हैं, तब यदि सभी के लिए शिक्षा द्वारा दायित्व-स्वीकृत अवसर की समानता हो, तो परिणामित वितरण न्यायपूर्ण होगा"।
- इन परिस्थितियों के तहत, रॉल्स का दावा है, लोग शाब्दिक क्रम में न्याय संबंधी दो सिद्धांतों को सहर्ष स्वीकार करेंगे। पहला है 'समानता सिद्धांत', जिसमें हर व्यक्ति को दूसरों की सदृश स्वतंत्रता के अनुरूप ही सर्वाधिक व्यापक स्वतंत्रता का समान अधिकार होगा। यहां समान स्वतंत्रता को उदारवादी लोकतांत्रिक शासन-प्रणालियों के सुविदित अधिकारों के रूप में साकार किया जा सकता है।
- इनमें शामिल हैं - राजनीतिक भागीदारी हेतु समान अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, कानून के समक्ष स्वतंत्रता, इत्यादि।
- दूसरे सिद्धांत को 'भिन्नता सिद्धांत' कहा जाता है, जिसमें रॉल्स का तर्क है कि असमानताओं को केवल तभी सही ठहराया जा सकता है, यदि उनसे निम्नतम लाभांवितों को लाभ पहुंचता हो।

न्याय संबंधी रॉल्स के सिद्धांत में लोगों को सामाजिक व्यवस्था संबंधी एक विकल्प चुनना पड़ता है। वे स्वभावत: एक इच्छास्वातंत्र्यवादी समाज चुनेंगे। यह सिद्धांत सभी को समान मौलिक स्वतंत्रताएं प्रदान करता है।

प्रभुसत्ता

प्रश्न:लास्की ने संप्रभुता के निरपेक्ष स्वरूप को क्यों अस्वीकार किया? व्याख्या कीजिए।

उत्तर: डैविड हैल्ड के अनुसार संप्रभुता का अर्थ है "समुदाय के अन्दर राजनीतिक प्राधिकार जिसके पास एक प्रदत्त क्षेत्र के भीतर नियम, विनियम और नीति निर्धारण के लिए अविवादित अधिकार होता है।"

- परम्परागत राजनीति-सिद्धांत के अनुसार संप्रभुता का अभिप्राय यह है कि राज्य की शक्ति शंकारहित है और राज्य को अधिकार है कि वह अपने नागरिकों से निष्ठा बनाए रखने की अपेक्षा करें। इसका अर्थ यह भी निकलता है कि राज्यादेश का उल्लंघन करने पर जुर्माना (penalty) लगेगा अथवा अन्य प्रकार से दंडनीय होगा।
- राज्य की सर्वोच्च शक्ति के रूप में संप्रभुता एक आधुनिक धारणा है। सामाजिक दार्शनिक रूसो ने जनता में अवस्थित संप्रभुता को 'आम राय' के रूप में व्यक्त किया। रूसो के अनुसार, आम राय और संप्रभुता अन्तर-परिवर्तनीय संकल्पनाएं हैं। संप्रभुता असीमित, सर्वोच्च और निरपेक्ष होती है।
- लास्की संप्रभुता के निरपेक्ष स्वरूप को अस्वीकार करते हैं। लास्की के अनुसार, संप्रभुता कुछ निश्चित अवधि को छोड़कर हमेशा सीमाओं के अधीन होती है, यह वह अवधि थी, जब राष्ट्र-राज्य अस्तित्व में आए और राजाओं ने अपना अधिकार कायम किया।
- यदि हम इस संक्षिप्त अवधि को छोड़ दें, तो हमें निरपेक्ष संप्रभुता का कोई उदाहरण नहीं मिलेगा। आधुनिक समय में, संप्रभुता सीमित है। इसका एकमात्र अपवाद ब्रिटिश नरेश हो सकता था, परन्तु लास्की का तर्क है, "प्रत्येक को पता है कि आस्टिन के अनुसार संसद में नरेश को संप्रभु निकाय के रूप में मानना बकवास है।" कोई भी संसद रोमन कैथोलिक चर्च को मताधिकार से वंचित नहीं कर सकती, अथवा श्रमिक संगठनों के अस्तित्व को नकार सकती है।

अत: लास्की का कहना है, ''किसी भी संप्रभु को कहीं भी असीमित शक्तियां प्राप्त नहीं हुई हैं और ऐसा करने का प्रयास रक्षा उपाय के रूप में सामने आया है।'' वस्तुत: प्रत्येक संप्रभु को समाज के अन्दर कार्य करना पड़ता है और समाज ऐसे रीति-रिवाजों और परम्पराओं के अनुसार कार्य करता है, जो लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आते हैं तथा कोई भी शासक चाहे वह कितना ही निर्दयी क्यों न हो, उनका उल्लंघन नहीं कर सकता।

प्रथम प्रश्न-पत्र

दर्शन का इतिहास एवं समस्याएं

1

प्लेटो एवं अरस्तू

प्र. ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा के बीच संबंध की स्थापना हेतु प्लेटो किस प्रकार आकार सिद्धांत का उपयोग करते हैं? विवेचना कीजिये। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: आकार सिद्धांत प्लेटो के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। आकार सिद्धांत के अनुसार ज्ञान के वास्तविक विषय आकार है। ज्ञान अपरिवर्तनशील और सार्वभौमिक होता है। परिवर्तनशील प्रत्यक्ष जगत की वस्तुओं को ज्ञान का वास्तविक विषय नहीं माना जा सकता। ज्ञान का विषय नित्य एवं अपरिवर्तनशील सत्ता हो सकती है। प्लेटो के अनुसार यह नित्य एवं अपरिवर्तनशील सत्ता 'सामान्य' है जिसे यहां 'आकार' कहा गया गया है। इन आकारों की दृश्य वस्तु जगत से परे अपनी स्वतंत्र एवं निजी सत्ता है।

प्लेटो दो प्रकार के जगत की स्थिति को स्वीकार करते हैं-

(i) दृश्य जगत या वस्तु जगत, जो कि अनित्य एवं परिवर्तनशील है।

(ii) आकारों का जगत, जो कि वास्तविक जगत है। प्लेटो के अनुसार प्रत्यय जगत और प्रत्यक्ष जगत में निम्न अंतर है-

प्रत्यय जगत	प्रत्यक्ष जगत
सत्	आभास
नित्य	अनित्य
अपरिवर्तनशील	परिवर्तनशील
चित्त रूप	जड़ात्मक
सामान्य	विशेष
निरपेक्ष	सापेक्ष
मूलतत्व	अनुकृति
पूर्ण	अपूर्ण
बुद्धिग्राह्य	इन्द्रियग्राह्य

प्लेटो प्रत्यक्ष-जगत प्रत्यय जगत के संबंध को स्पष्ट करने के लिए दो प्रकार की उपमाओं का प्रयोग करते हैं।

1) **प्रतिबिम्बवादया अनुकृति सिद्धांत:** इसके अनुसार प्रत्येक जगत की वस्तुएं प्रत्यय जगत की अनुकृतियां हैं। प्लेटो इसी कारण प्रत्यक्ष जगत की वस्तुओं को अंशत: सत् और अंशत: असत् कहते हैं।

2) **सहभागिता सिद्धांत:** इसके अनुसार प्रत्यक्ष जगत की वस्तुएं प्रत्यय जगत में सहभागी होती हैं। प्लेटो के अनुसार, विश्व में जितने प्रकार की वस्तुएं हैं, पारमार्थिक जगत में उतने ही प्रकार के प्रत्यय हैं।

प्लेटो कालान्तर में यह मानते हैं कि संपूर्ण जगत प्रत्यय जगत की अभिव्यक्ति मात्र है। यह अभिव्यक्ति अपूर्ण अभिव्यक्ति है।

प्लेटों ज्ञान के संदर्भ में अपनी पूर्ववर्ती मान्यताओं एवं सिद्धांतों का खण्डन करते हैं और तत्पश्चात वे इस बात की स्थापना करते हैं कि ज्ञान प्रत्ययों द्वारा ही प्राप्त होता है। वस्तुत: प्लेटो के दर्शन में प्रत्ययों का सिद्धांत उनके दर्शन का केन्द्र है। परन्तु इनकी व्याख्या करने के लिए प्लेटो की ज्ञान मीमांसा को दो भागों में बांटा जाता है:

1) **नकारात्मक पक्ष:** नकारात्मक पक्ष में दो सिद्धांतों का खण्डन करते हैं- (i) ज्ञान प्रत्यक्ष है, (ii) ज्ञान मत है।

2) **स्वीकारात्मक पक्ष:** यह पक्ष प्रत्यक्ष सिद्धांत से संबंधित है।

प्लेटो के प्रभाव को निम्न दार्शनिक परंपराओं में देख सकते हैं-

बुद्धिवाद: प्लेटो के अनुसार अनुभव से हमे लौकिक जगत की परिवर्तनशील वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है।

वस्तुवाद: प्लेटो के दर्शन में वास्तविक ज्ञान के विषय अर्थात प्रत्ययों की ज्ञाता से पृथक अपनी स्वतंत्र वस्तुगत सत्ता मानी गई है।

आदर्शवाद: परम तत्व प्रत्यय हैं। लौकिक जगत की वस्तुएं इनकी अनुकृति या अपूर्ण अभिव्यक्तियां हैं।

प्रपंचवाद: प्लेटो के अनुसार प्रत्यय ही सत् है, लौकिक जगत की वस्तुएं प्रत्यय जगत का आभास, प्रपंच है।

द्वैतवाद: द्वैतवाद की समस्या प्लेटो के दर्शन में दिखाई देती है। यहां जड़ जगत एवं प्रत्यय जगत के बीच द्वैत है।

प्र. क्या अरस्तू का तादात्म्य के स्वरूप सम्बन्धी मत उनके इस मत से साम्यता रखता है कि कारण प्रक्रियानुगत है? उचित उदाहरण देते हुए व्याख्या कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: विश्व की सम्यक रूपेण व्याख्या करने के लिए अरस्तू कारणता सिद्धांत को प्रस्तुत करते हैं। इसके द्वारा वे वैश्विक पदार्थों के अस्तित्व, उत्पत्ति, उद्देश्य एवं औचित्य की व्याख्या करते हैं। उन्होंने कारणता के अन्तर्गत भौतिक कारणों के साथ-साथ प्रयोजनमूलक कारण को भी सम्मिलित किया है। अरस्तू के अनुसार प्रत्येक वस्तु या घटना के चार कारण होते हैं। ये कारण वैकल्पिक नहीं है, अपितु वस्तु इन चार कारणों का संयुक्त परिणाम होती है। ये चार कारण हैं-

1. **उपादान कारण :** कार्य का निर्माण किससे हुआ है।
2. **निमित्त कारण :** किसने कार्य क्या है।

2

तर्कबुद्धिवाद

प्र. स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य की अवधारणा का विवेचन कीजिये। द्रव्य सम्बन्धी उनकी विवेचना क्या सर्वेश्वरवाद की ओर ले जाती है? अपने मत की पुष्टि कीजिये।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: द्रव्य विचार स्पिनोजा के दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचार है। स्पिनोजा के अनुसार "द्रव्य वह है, जो अपने में ही निहित है और उसके चिंतन के लिए किसी अन्य वस्तु के चिंतन की अपेक्षा न हो।"

स्पिनोजा द्वारा दी गई द्रव्य की इस परिभाषा से द्रव्य के निम्न लक्षण निकलते हैं-

i) द्रव्य स्वतंत्र है। वह अपनी सत्ता या ज्ञान के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं है।

ii) द्रव्य निरपेक्ष है। वह अपनी सत्ता या ज्ञान के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता।

iii) द्रव्य पूर्ण है। यदि द्रव्य को अपूर्ण माना जाये तो फिर द्रव्य की स्वतंत्रता और निरपेक्षता खण्डित होगी।

iv) द्रव्य अद्वितीय है। यदि द्रव्य को एक से अधिक माना जाये तो उसकी स्वतंत्रता और निरपेक्षता पर आघात होगा।

v) द्रव्य अपरिमित है, अर्थात वह न तो सीमित है और न किसी पर आश्रित।

vi) द्रव्य स्वत: सिद्ध और स्वयं प्रकाशित है।

vii) द्रव्य स्वयंभू है। द्रव्य स्वयं अपना कारण है। वह सबका कारण है, परन्तु उसका कोई कारण नहीं है।

viii) द्रव्य नित्य है।

- द्रव्य निर्गुण एवं अवर्णनीय है। यहां निगुर्ण का तात्पर्य गुणों के अभाव से नहीं है। द्रव्य के भीतर अनन्त गुण हैं और वे सभी गुणों की पराकाष्ठा को इंगित करते हैं। अंत:निर्गुण का वास्तविक अर्थ गुणों के अभाव से नहीं है, अपितु द्रव्य में सीमित गुणों के अभाव से है।
- निर्गुण होने के कारण द्रव्य अवर्णनीय हैं। वाणी द्वारा ऐसे असीमित गुण का विवेचन संभव नहीं है।
- स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य का प्रत्येक गुण निषेधात्मक होता है। द्रव्य पर यदि किसी गुण का आरोपण किया जाये तो वह इसे अनेक गुणों से सीमित कर देगा। अत: द्रव्य में निर्धारण नहीं है। उनके शब्दों में सभी निर्धारण निषेध हैं। उपरोक्त प्रकार के लक्षणों से युक्त द्रव्य ईश्वर ही हो सकता है। इसलिए स्पिनोजा अपने द्रव्य को ईश्वर की संज्ञा देते हैं।
- स्पिनोजा के अनुसार, ईश्वर या द्रव्य एक पूर्णत: स्वतंत्र असमी और स्वयंभू सत्ता है। द्रव्य की परिभाषा देते हुए स्पिनोजा ने कहा है- "द्रव्य वह है, जो आत्मनिहित हो और जिसका बोध अपने आप से होता हो।" स्पिनोजा ने द्रव्य को ही ईश्वर कहा है।
- द्रव्य की परिभाषा से स्पष्ट है कि उसका स्वरूप ऐसा है कि इसे अपने अस्तित्व के लिए किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं है लेकिन अन्य सभी चीजें द्रव्य या ईश्वर पर निर्भर हैं। ईश्वर ही एकमात्र निरपेक्ष सत्ता है, सबका मूलाधार है। चूकि अंतिम रूप से केवल ईश्वर की ही सत्ता है, इसलिए जिस किसी भी चीज की सत्ता है, वह ईश्वर ही है। ईश्वर और सत्ता समव्यापी हैं। संपूर्ण सत्ता ईश्वर है और ईश्वर ही संपूर्ण सत्ता है। इसलिए स्पिनोजा का मत 'सर्वेश्वरवाद' कहलाता है।
- स्पिनोजा के ईश्वर के साथ विश्व का संबंध तादात्म्यमूलक ही हो सकता है। ईश्वर संपूर्ण सत्ता है और विश्व को भी संपूर्ण सत्ता का द्योतक माना जाता है। अत: ईश्वर और विश्व अलग-अलग नहीं है। दोनों अभिन्न हैं। ईश्वर पूर्णत: विश्वव्यापी है और विश्व पूर्णत: ईश्वराधीन है (All is God and God is All)।
- स्पिनोजा के मत में ईश्वर ही विश्व का कारण है, परंतु ईश्वर अंतर्यामी कारण है, दूरस्थ कारण नहीं। ईश्वर जगत की सृष्टि अपने से भिन्न और स्वतंत्र रूप से नहीं करता। ईश्वर विश्व का अंतर्निहित कारण है।
- अब यदि हम ईश्वर को सक्रिय अंतर्यामी कारण समझें, जिससे कि विश्व का प्रतिक्षण पालन होता है तो इस रूप में स्पिनोजा ने ईश्वर को 'नुचुरा नेचुरन्स' कहा है। फिर यदि हम ईश्वर को विश्व की वस्तुओं की समग्रता या कार्यरूप में देखें तो ईश्वर को स्पिनोजा ने 'नेचुरेटा' कहा है।
- स्पिनोजा का ईश्वर व्यक्तिरहित हैं, क्योंकि व्यक्तित्व का आरोपण करने पर वह सीमित हो जायेगा और सीमित होने पर इसका ऐश्वर्य समाप्त हो जायेगा। व्यक्तित्व का अभाव होने से इसमें इच्छा और प्रयोजन का आरोप भी नहीं किया जा सकता।
- इसलिए ईश्वर से विश्व की उत्पत्ति भी प्रयोजनपूर्ण नहीं है, बल्कि ईश्वर की प्रकृति का स्वभाविक और निवार्य परिणाम है। विश्व का कण-कण ईश्वरमय है। इसलिए काल-सापेक्ष सृष्टि स्पिनोजा को स्वीकार्य नहीं है। ईश्वर का विश्व से काल-निरपेक्ष शाश्वत संबंध है।

3

इंद्रियानुभववाद

प्र. जॉन लॉक जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन क्यों और कैसे करते हैं? लॉक की ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के स्वरूप एवं स्रोत का निरुपण कीजिये। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: लॉक अनुभववादी है, उनके अनुसार अनुभव ही ज्ञान का एकमात्र यथार्थ स्रोत है। मनुष्य के ज्ञान कोष में जो कुछ भी है, वह सब अनुभवजन्य है। ज्ञान की उत्पत्ति संबंधी लॉक का यह मत सहजज्ञानवाद के विरुद्ध है। लॉक अनुभववाद की स्थापना के क्रम में पहले बुद्धिवादियों की जन्मजात प्रत्यय संबंधी अवधारणा का खण्डन करते हैं। लॉक ने सहजात प्रत्ययों से उन प्रत्ययों का अर्थ लगाया है, जिनके विषय से यह मत था कि वे ईश्वर प्रदत्त हैं और सभी लोगों में जन्म के समय से पाये जाते हैं।

- लॉक बुद्धिवादियों की इस मान्यता का खण्डन करते हैं, इस संबंध में उनके तर्क निम्नवत् हैं-
- लॉक के अनुसार हम ज्ञान के दो ऐसे वर्ग पाते हैं जिन्हें बुद्धिवादी सहजात या जन्मजात समझते हैं-

(i) स्वत: स्पष्ट तार्किक सिद्धांत,

(ii) नैतिक नियम।

सहज ज्ञानवादियों का तर्क है कि इन्हें अनिवार्य एवं सार्वभौमिक रूप से सत्य माना जाता है, इसलिए यह सहजात है। लॉक का मुख्य तर्क है कि कोई भी प्रत्यय शायद ही जन्मजात और सार्वभौम मान भी लिया जाये तो सार्वभौमिकता की व्याख्या सहजात होने के आधार पर नहीं बल्कि, अनुभव के सहारे ही हो सकती है।

1. तर्कशास्त्र के सिद्धांत जैसे आत्मव्याघात तथा तादात्म्य के निमय, प्रशिक्षित और परिपक्व मस्तिष्क के लिए स्वत: स्पष्ट होते हैं। परन्तु छोटे बच्चों और मंद बुद्धि वालों के लिए ये **सिद्धांत** अबोधगम्य होते हैं। वास्तव में ये सिद्धांत इतने जटिल है कि जन्मजात नहीं होकर प्रौढ़ावस्था में अनुभव विस्तार के साथ-साथ गहन चिंतन के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं।
2. नैतिक और धार्मिक प्रत्ययों की तथाकथित सार्वभौम मतैक्यता को भी लॉक अस्वीकार करते हैं। कोई भी ऐसा नैतिक नियम नहीं हैं। जो सभी देश और सभी काल में समान रूप से सत्य माने जाते हैं। विभिन्न धर्मों के ईश्वर संबंधी प्रत्यय भी समरूप नहीं है। कई जातियां और धर्म ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते हैं।
3. कुछ प्रत्यय वास्तव में सार्वभौमिक हैं, पर उन्हें सहज नहीं समझा जाता। उदाहरण: सूर्य, अग्नि, ताप इत्यादि के प्रत्यय सभी लोगों में हैं। परन्तु इनकी अनुभव सापेक्षता इतनी स्पष्ट है कि उन्हें सहजात नहीं माना जा सकता।
4. सहजज्ञानवादी यह तर्क भी दे सकते हैं कि सहजात प्रत्यय तो मानव मन में जन्म के समय से ही विद्यमान रहते हैं, परन्तु कालान्तर में वे स्पष्ट हो जाते हैं।

इसके विरुद्ध लॉक का तर्क है कि कोई प्रत्यय मन में रहे और फिर भी लोग इससे अनभिज्ञ रहें, यह एक आत्मविरोधी बात है।

लॉक की ज्ञानमीमांसा में तीन प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं-

(i) ज्ञान का मूल स्रोत क्या है और इसकी उत्पत्ति कैसे होती है?

(ii) ज्ञान का स्वरूप क्या है, इसकी वैधता या प्रमाणिकता का आधार क्या है?

(iii) ज्ञान की सीमा क्या है?

लॉक इन प्रश्नों क विवेचन अनुभववाद के प्रसंग में करते हैं। अनुभववाद, बुद्धिवाद का विरोधी सिद्धांत है। लॉक बुद्धिवादियों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए कहते हैं कि कोई भी प्रत्यय जन्मजात नहीं होता। जन्म के समय मन एक सफेद पेपर या स्वच्छ प्लेट या रिक्त कमरे के समान होता है; जिसमें ज्ञान रूपी प्रकाश का प्रवेश इन्द्रिय अनुभव के माध्यम से होता है। स्पष्ट है कि यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र अनुभव है, बुद्धि नहीं।

अनुभव से ज्ञान की प्राप्ति दो रूपों में होती है- 1. संवेदन, 2. स्वसंवेदन। इसमें संवेदन पहले होता है और स्वसंवेदन इसके बाद होता है।

निष्कर्ष

संवेदन ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त बाह्य ज्ञान है। यह ज्ञान का प्राथमिक स्रोत है। स्वसंवेदन से आंतरिक जगत के भावों या संवेगों का ज्ञान प्राप्त होता है। विश्व का समस्त ज्ञान इन्हीं संवेदनाओं, स्वसंवेदनाओं या दोनों के संयोग से होता है।

प्र. 'संवेद्य वस्तुएं केवल वे होती हैं जिन्हें अव्यवहित अथवा अपरोक्ष रूप से इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सके।' उपरोक्त वाक्य के सन्दर्भ में बर्कले की ज्ञानमीमांसा की व्याख्या कीजिए। *(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)*

उत्तर: बर्कले के अनुसार भौतिक पदार्थ की धारणा तीन बातों पर निर्भर करती है- अमूर्तबोधन, प्राथमिक और गौण गुणों का भेद, तथा प्रत्ययों के बाह्य कारण के आधार पर। बर्कले ने इन तीनों का खण्डन किया है। भौतिक पदार्थ एक अमूर्त विचार है, अमूर्तबोधन एक असंगत प्रक्रिया है जिसमें किसी एक गुण को वस्तुओं से अलग करके अमूर्त प्रत्यय की रचना करते हैं। परन्तु अमूर्त प्रत्यय का सत्तात्मक आधार नहीं होता।

4

कांट: संश्लेषात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभवता

प्र. इमैन्युएल काण्ट के अनुसार अंत:प्रत्यक्ष क्या है? उनके द्वारा प्रस्तुत देश तथा काल के प्रागनुभविक प्रतिपादन के सन्दर्भ में विवेचना कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: कांट के अनुसार देश और काल हमारी संवेदन शक्ति के दो प्रागनुभविक आकार हैं ,जिनमें से ढलकर संवेदनाएं प्रत्यक्ष का रूप धारण करती हैं। इन प्रत्यक्षों को हमारी तर्क बुद्धि अपनी कोटियों द्वारा व्यवस्थित करके ज्ञान का रूप देती है। अत: कांट के अनुसार ज्ञाता से स्वतंत्र या निरपेक्ष रूप में देश और काल की सत्ता नहीं है।

साधारणत हम सोचते हैं कि देश और काल विश्व में विद्यमान वस्तुनिष्ठ तत्व हैं। न्यूटन का ऐसा ही मत था। इसके विपरीत लाइवनित्स के अनुसार देश और काल की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ह्यूम का मत है- देश और काल का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। ह्यूम के अनुसार देश और काल प्रत्ययों में साहचर्य स्थापित करने की मन की प्रवृत्ति मात्र है। कांट का मन इन सबसे भिन्न है। कांट देश और काल की दो तरह से व्याख्या करते हैं-

(1) तत्वमीमांसात्मक व्याख्या,

(2) अनुभवालीत व्याख्या।

तत्वमीमांसात्मक व्याख्या के अन्तर्गत कांट दो बातें स्पष्ट करना चाहते हैं-

(i) देश और काल संवेदन शक्ति के प्रागनुभविक आकार हैं।

(ii) देश और काल शुद्ध प्रत्यक्ष प्रत्यय नहीं।

देश और काल की प्रागनुभविकता सिद्ध करने के लिए कांट निम्न तर्क देते हैं-

(a) देश और काल का ज्ञान हमें अनुभव से नहीं मिलता। आनुभविक ज्ञान की यह विशेषता है कि इसका विरोधी या विपरीत सोचा जा सकता है; किन्तु देश और काल के विषय में ऐसा संभव नहीं है। देश त्रिविमीय होता है किन्तु इसे किसी अन्य रूप में, तीन से कम या अधिक विभाओं से संपन्न करके सोचना संभव नहीं है। फिर, काल का क्रम अपतिवर्ती होता है। काल क्रम को प्रतिवर्ती रूप में सोचा ही नहीं जा सकता। इस प्रकार अनुभवगम्य वस्तुओं और घटनाओं के विपरीत देश और काल के स्वरूप को अन्यथा मानकर सोचा नहीं जा सकता, इससे सिद्ध होता है कि ये वस्तुनिष्ठ नहीं, बल्कि प्रागनुभविक है।

(b) देश और काल इसलिए भी प्रागनुभविक हैं, क्योंकि इनके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। देश और काल को हम बिना वस्तुओं और घटनाओं के सोच सकते हैं, परंतु वस्तुओं और घटनाओं को देश और काल के बिना नहीं सोच सकते।

2. अनुभवातीत व्याख्या के अन्तर्गत कांट यह दिखाना चाहते हैं कि देश और काल की प्रागनुभविकता पर ही कतिपय संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक विज्ञान निर्भर करते हैं, परन्तु हमारे ज्ञान में अनि के पश्चात वे तत्काल ही प्रागनुभविक हो जाते हैं। इसलिए देश काल संबंधी निर्णय सार्वभौम एवं अनिवार्य होते हैं। यहां कांट का मानना है कि यद्यपि देश काल के प्रत्यक्ष मानसिक हैं, किन्तु वे काल्पनिक नहीं हैं। इनमें वस्तुनिष्ठ वैधता पायी जाती है। कांट के अनुसार ज्यामिति का संबंध देश से है, अंकगणित का संबंध काल से है और गति विज्ञान देश और काल दोनों पर निर्भर है।

चूंकि देश और काल सभी मनुष्यों में एक समान रूप से पाये जाते हैं, जिनके द्वारा सभी संवेदनाएं ग्रहण की जाती की जाती है, अत: इनसे जो ज्ञान होगा, वह सार्वभौम होगा। फिर ये शुद्ध प्रत्यक्ष है, अत: इन पर आधारित ज्ञान संश्लेषणात्मक भी होगा। इसी आधार पर कांट गणितीय ज्ञान की व्याख्या करते हैं।

निष्कर्ष

स्पष्ट है कि कांट के मन में देश और काल परमार्थ पदार्थों के गुण नहीं है। इनकी हसमे स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं। हम देश और काल में नहीं, बल्कि देश और काल हमसे है, अत: पारमार्थिक दृष्टि से देश और काल आत्मनिष्ठ है। परन्तु इनकी आत्मनिष्ठता ऐसी है कि ये सामान्य रूप से सभी ज्ञाताओं में पाये जाते हैं। इसलिए व्यावहारिक जीवन में हमें देश और काल वस्तुनिष्ठ प्रतीत होते हैं। अत: कांट का देश काल सिद्धांत केवल प्रत्यक्ष जगत की व्याख्या करना है। परमार्थ पर इसका आरोप नहीं किया जा सकता। कांट का यह मत अद्वैत वेदान्त से साम्य रखता है।

प्र. शुद्ध तर्कबुद्धि की भ्रमात्मक प्रवृत्तियों की व्याख्या के लिए काण्ट किस प्रकार विप्रतिषेधों की रचना करते हैं? काण्ट द्वारा प्रस्तुत विप्रतिषेधों की व्याख्या एवं परीक्षा कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: कांट हमारी ज्ञान शक्ति के तीन आधार मानते हैं-

(1) संवेदन-शक्ति,

(2) बुद्धि,

(3) प्रज्ञा।

संवेदन-शक्ति ज्ञान की सामग्री या उत्पादन प्रस्तुत करती है और बुद्धि उन्हें आकार प्रदान करती है। संवेदन-शक्ति अपने प्रागनुभाविक आकारों-देश और काल के माध्यम से बाहर से संवेदनाओं को ग्रहण करके उन्हें प्रत्यक्ष का रूप देती है।

5

हीगल

प्र. जार्ज विल्हेल्म हीगल के दर्शन में द्वन्द्वात्मक विधि क्या है? निरपेक्ष के फलीभूतिकरण में यह विधि किस प्रकार सहायक है? विवेचना कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक विधि का पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। द्वंद्वात्मक विधि के आधार पर हीगल निरपेक्ष विज्ञान के विकास की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार द्वंद्वात्मक विधि निरपेक्ष विज्ञानवाद के ही अंग के रूप में प्रदर्शित होती है। हीगल के अनुसार द्वंद्वात्मक विधि से होने वाला यह विकास तार्किक है, समय या काल के अन्तर्गत होने वाला विकास नहीं है।

- द्वंद्वात्मक विकास हीगल के दर्शन का सर्वथा नवीन सिद्धांत नहीं है; बल्कि इसका संकेत जीनों, प्लेटो, कांट, फिक्टे आदि पूर्ववर्ती दार्शनिक के मत में मिलता है।
- फिक्टे ने द्वंद्वात्मक विधि का प्रयोग लगभग हीगल के समरूप ही किया था। परन्तु फिक्टे ने इस विधि द्वारा सर्वोच्च सत्ता के रूप में संकल्प को स्थापित किया था। वहीं हीगल ने चैतन्य या विचार को। हीगल के अनुसार परमतत्व ज्ञान स्वरूप, विचार स्वरूप या चैतन्य स्वरूप है। स्पष्ट है कि हीगल ने द्वंद्वात्मक विकास से निरपेक्ष विज्ञान के विकास की व्याख्या में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।
- द्वंद्वात्मक विधि को वाद, प्रतिवाद एवं समन्वय इन तीन सोपानों में प्रस्तुत किया जाता है। इसके अनुसार एक का प्रतिवादन लेता है (वाद), इसका विरोधी प्रतिपादित होता है (प्रतिवाद) और फिर दोनों का समन्वय होता है (समन्वय), समन्वय पुनः वाद का रूप होता है, इसका प्रतिवादी आता है और फिर उनका समन्वय होता है, फिर समन्वय का वाद बनता है। इस प्रकार खण्डन मण्डन के इसी क्रम में विकास चलता रहता है। वाद, प्रतिवाद, समन्वय, पुनः वाद, प्रतिवाद इसे ही द्वंद्वात्मक पद्धति कहते हैं।
- निरपेक्ष विज्ञान का विकास इसी द्वन्द्वात्मक विधि से होता है। निरपेक्ष विज्ञान पहले अमूर्त था। फिर मूर्त बना और तत्पश्चात् मूर्त और अमूर्त का समन्वय बना।
- विकास का यह त्रिक रूप परम तत्व की व्याख्या करता है। तथा परम तत्व से विश्व की उत्पत्ति की भी व्याख्या करता है। यहां एक और अनेक की व्याख्या का समाधान हीगल विरोध के समन्वय सिद्धांत के द्वारा करते हैं। यह समन्वय सम्पक्ष में होता है।
- सत्ता का विज्ञान सृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण विज्ञान है। सत्ता का विज्ञान हीगल भाव, अभाव और सम्भवन के त्रिक से दर्शाते हैं।
- यहां भाव पक्ष है, अभाव प्रतिपक्ष है और सम्भवन पक्ष तथा प्रतिपक्ष का समन्वय है। इस प्रकार भाव, अभाव और सम्भवन हीगल के दर्शन का प्रथम त्रय है। यहां भाव और अभाव दोनों में विरोध भी है और फिर दोनों एक भी हैं।
- ये दोनों एक है, क्योंकि अभाव को भाव पर विचार करने के फलस्वरूप ही प्राप्त किया गया है। सम्भवन में भाव और अभाव का विरोध समाप्त हो जाता है। यहां भेद और अभेद दोनों रूपान्तरित होकर एक नया पक्ष बना लेते हैं।

प्र. हीगल की द्वन्द्वात्मक विधि की विवेचना कीजिए। उनकी द्वन्द्वात्मक विधि किस प्रकार उन्हें निरपेक्ष प्रत्ययवाद की ओर ले जाती है, इसकी व्याख्या कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक विधि का पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। द्वन्द्वात्मक विधि के आधार पर हीगल निरपेक्ष प्रत्ययवाद की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक विधि निरपेक्ष प्रत्ययवाद के ही अंग के रूप में प्रदर्शित होती है।

- हीगल के अनुसार, द्वन्द्वात्मक विधि से होने वाली यह विकास तार्किक है। समय या काल के अन्तर्गत होने वाला विकास नहीं है।
- द्वन्द्वात्मक विकास हीगल के दर्शन का सर्वथा नवीन सिद्धांत नहीं है बल्कि इसका संकेत जीनो, प्लेटो, कांट फिक्टे आदि पूर्ववर्ती दार्शनिकों के मत में मिलता है।
- हीगल के अनुसार, परमत्व ज्ञान स्वरूप, विचार स्वरूप या चैतन्य स्वरूप है। स्पष्ट है कि हीगल ने द्वन्द्वात्मक विकास से निरपेक्ष विज्ञान के विकास की व्याख्या में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।
- द्वन्द्वात्मक विधि को वाद, प्रतिवाद एवं समन्वय इन तीन सोपानों में प्रस्तुत किया जाता है। इसके अनुसार एक का प्रतिपादन होता है (वाद), इसका विरोधी प्रतिपादित होता है (प्रतिवाद) और फिर दोनों का समन्वय होता है। समन्वय पुनः वाद का रूप लेता है उसकी प्रतिवादी आता है और फिर उनका समन्वय होता है फिर समन्वय का वाद बनता है। इस प्रकार खण्डन मण्डन के इसी क्रम में विकास चलता रहता है। वाद, प्रतिवाद, समन्वय, पुनः वाद प्रतिवाद इसे ही द्वन्द्वात्मक पद्धति कहते हैं।
- निरपेक्ष प्रत्ययवाद का विकास इसी द्वन्द्वात्मक विधि से होता है। निरपेक्ष प्रत्ययवाद पहले अमूर्त था फिर मूर्त बना और तत्पश्चात् मूर्त और अमूर्त का समन्वय बना।

6

मूर, रसेल एवं पूर्ववर्ती विट्गेन्सटीन

प्र. बर्टेण्ड रसेल की तार्किक विश्लेषण की विधि क्या है? अन्ततः किस प्रकार इसकी परिणति अर्थ के अणुवादी सिद्धान्त में होती है? विवेचना कीजिये।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तरः रसेल के अनुसार, तात्विक रूप से सत्ता सिर्फ उन सरलतम अणुओं या विशेषों की मानी जा सकती है, जिनका ज्ञान साक्षात परिचयात्मक विधि से होता है। साक्षात परिचयात्मक विधि से इन्द्रिय प्रदत्तों, स्मृत्तियों, आत्म चेतना तथा कुछ सामान्य गुणों और संबंधों का ज्ञान तो होता है, किन्तु कथित जागतिक वस्तुओं का नहीं।

- रसेल इन वस्तुओं की व्याख्या तार्किक संरचना के रूप में करते हैं। तार्किक संरचना की अवधारणा रसेल ने एक मेज के उदाहरण से स्पष्ट की हैं। इसके अनुसार, जब हम मेज को देखते हैं तो वस्तुतः हमें कई इन्द्रिय प्रदत्त प्राप्त होते हैं। जैसे हरा धब्बा, एक विशेष आकार इत्यादि। इसे छूने पर एक ओर इन्द्रिय प्रदत्त कठोरता प्राप्त होता है। हमारा साक्षात परिचयात्मक ज्ञान यहीं तक सीमित है। विभिन्न कालों में प्रकाश की विभिन्न मात्राओं में विभिन्न कोणों से, विभिन्न दूरियों से जब हम इसी मेज को बार-बार देखते हैं तो भिन्न-भिन्न इन्द्रिय प्रदत्त प्राप्त होते हैं।
- मेज कोई भौतिक वस्तु नहीं है, न ही वह इन्द्रिय प्रदत्तों का कुल योग है। वह तो विभिन्न प्रतीति शृंखलाओं द्वारा निर्मित तार्किक मनः सृष्टि या तार्किक कल्पना है।
- रसेल ने भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ अन्य व्यक्तियों को भी तार्किक संरचना माना है। उदाहरण के लिए यदि कोई राम नाम के व्यक्ति को जानता है तो विभिन्न प्रतीति शृंखलाओं के रूप में ही जानता है। अतः वह भी तार्किक संरचना मात्र है। तार्किक संरचनाओं की अभिव्यक्ति अपूर्ण प्रतीकों के माध्यम से होती है, जिसका संबंध वर्णनात्मक ज्ञान से है।
- तार्किक अणुवाद के तार्किक पक्ष के अन्तर्गत रसेल ने भाषा अर्थात वाक्यों या प्रतिव्यक्तियों पर विचार किया है। अणु वाक्य का संदर्भ भी इसी विचार क्रम में आया है।
- रसेल ने अणु वाक्य एवं आण्विक वाक्य में अन्तर किया है। अणु वाक्य सरलतम वाक्य है। इसमें विशेष एक ही होता है। इसमें विशेष का गुण या संबंध सूचित होता है। गुण या संबंध को किया या विधेय द्वारा व्यक्त किया जाता है। जैसे 'यह है' या 'यह'-अणुवाक्य का उदाहरण है। अणुवाक्यों से तथ्य निर्देश होता है।
- आण्विक वाक्य अणु वाक्यों से मिलकर बनते हैं। दो या दो से अधिक अणुवाक्यों को 1 या 2, यदि 3 और 4 यदि और केवल यदि के द्वारा जोड़ा जाता है।

तार्किक अणुवाद की आलोचना

बाद में रसेल तथा विटगेन्स्टीन दोनों ने ही तार्किक अणुवाद का परित्याग कर दिया, जिसके कई कारण थे।

1. तार्किक अणुवाद के लिए यह आवश्यक था कि केवल विशेष भावात्मक अणु तथ्यों को स्वीकार किया जाये, तथ्यों को नहीं। परन्तु रसेल ने बाध्य होकर निषेधात्मक, सार्वभौमिक एवं अभिप्रायमूलक तथ्यों को भी स्वीकार किया है एजिसके कारण तार्किक अणुवाद का पूरा कार्यक्रम समाप्त हो गया।
2. जिस प्रकार भाषा शब्दों का संयोजन है, इस रूप में हम तथ्यों को वस्तुओं का संयोजन नहीं कह सकते। अर्थात् सरल तर्क वाक्य तथा तथ्यों की रचना एक नहीं है। सरल तर्क वाक्य शब्दों का एक क्रमबद्ध संबंध है। पर वस्तु को हम तथ्यों का क्रमबद्ध संबंध नहीं कर सकते। अतः दोनों में आकारिक समानता देखना मात्र पूर्वाग्रह है।

प्र. मूर अपने प्रपत्र 'ए डिफेन्स ऑफ कॉमन सैन्स' में यह सिद्ध करने के लिए क्या युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि इस संसार के विषय में ऐसी प्रतिज्ञाप्तियां सम्भव हैं जिन्हें निश्चितता के साथ सत्य जाना जा सकता है? क्या आप सोचते हैं कि मूर द्वारा दी गई युक्तियां संशयवादी द्वारा ज्ञान की संभावना के विरोध में प्रस्तुत आक्षेपों का पर्याप्त प्रत्युत्तर देती हैं? अपने उत्तर के पक्ष में युक्तियां प्रस्तुत कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तरः मूर के अनुसार सामान्य विश्वास वह विश्वास हैं जिन्हें सभी लोग स्वीकार करते हैं या लगभग सभी लोग विश्वास करते हैं। समाज अथवा किसी समूह द्वारा जो विश्वास समान रूप से स्वीकार किये जाते हैं, मूर के अनुसार उन्हें सहज विश्वास या सहज बुद्धि कहा जा सकता है।

मूर ने अपने लेख 'सहज बुद्धि की प्रतिक्षा' (A Defence of Common Sence) में कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत कर यह बताया है कि आखिर किस प्रकार के विश्वास सामान्य विश्वास के अन्तर्गत आते हैं। इन उदाहरणों को दो सूचियों में वर्गीकृत किया गया है। इसमें पहली सूची भी दो भागों में विभाजित है-

7

तार्किक प्रत्यक्षवाद

प्र. तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार 'छद्मवाक्य' (सूडोस्टेटमेन्टस) क्या होते हैं? 'छाद्मवाक्यों' की पहचान किस प्रकार की जा सकती है? उदाहरणों सहित आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: यूनानी संशयवादियों से लेकर उन्नसवीं शताब्दी के अनुभववादियों तक तत्वमीमांसा के कई विरोधी रहे हैं। उठाई गई चिंताओं की प्रकृति बहुत अलग रही है। कुछ ने घोषित किया है कि तत्वमीमांसा का सिद्धांत गलत है क्योंकि यह अनुभवजन्य ज्ञान का खंडन करता है।

- दूसरों का कहना है कि यह अनिश्चित है क्योंकि यह मानव ज्ञान की सीमा से परे है। कई अध्यात्म विरोधियों ने घोषित किया है कि आध्यात्मिक प्रश्नों में व्यस्तता निष्फल है।
- आधुनिक तर्क के विकास के साथ, तत्वमीमांसा की वैधता और औचित्य के प्रश्न का एक नवीन उत्तर देना संभव हो गया है। 'एप्लाइड लॉजिक' या 'एपिस्टेमोलॉजी' की जांच के सकारात्मक और नकारात्मक परिणाम हैं, जो तार्किक विश्लेषण के माध्यम से वैज्ञानिक तथ्यों की संज्ञानात्मक सामग्री को स्पष्ट करते हैं। और इस प्रकार वाक्यों में होने वाले शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हैं।
- सकारात्मक परिणाम अनुभवजन्य विज्ञान के क्षेत्र में विकसित होता है। नकारात्मक परिणाम तत्वमीमांसा के क्षेत्र में है 'जहां तार्किक विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में कथित तथ्य पूर्ण रूप से व्यर्थ हैं। जब हम कहते हैं कि तत्वमीमांसा के तथाकथित वाक्य अर्थहीन हैं, तो हमारा तात्पर्य इस शब्द के सबसे कठिन अर्थ से है।
- अर्थहीन अर्थ में कभी-कभी किसी वाक्य या प्रश्न को अर्थहीन के रूप में संदर्भित करने की प्रथा है यदि उनका उपयोग पूरी तरह से निष्फल है। ऐसे वाक्य, भले ही निष्फल या गलत हो फिर भी अर्थपूर्ण होते हैं। दो प्रकार के छछ कथन है: या तो उनमें ऐसे शब्द होते हैं जिन्हें गलती से अर्थ माना जाता है या जबकि होने वाले शब्दों के वास्तव में अर्थ होते हैं। वे वाक्यात्मक रूप से अनियमित रूप से निर्मित होते हैं ताकि उनका कोई अर्थ न हो।

प्र. अतिमानव की आत्मा शुभ है।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2020)

प्रश्न की मांग: तार्किक प्रत्यक्षवाद की आधारभूत अवधारणा को समझाते हुए प्रस्तुत कथन का स्पष्टीकरण करना है।

उत्तर: जो दर्शन आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक चिन्तन पर मुख्य बल देता है कार्यों का तार्किक विश्लेषण कर कार्यकारक सम्बन्धों को तार्किक आधार देता है, तार्किक प्रत्यक्षवाद कहलाता है।

तार्किक प्रत्यक्षवाद के बारे में कहा जा सकता है -

- 'तार्किक प्रत्यक्षवाद कोई सामान्य अमूर्त सिद्धान्त नहीं है यह व्यावहारिकता व तार्किक सकारात्मकता का वह मिश्रण है जो सत्यापनशीलता का विशेषगुण तार्किक आधार पर रखता है।'
- सोलह कला सम्पूर्ण श्रीकृष्णजी ने अपने मुखारबिन्दु से श्रीमद्भगवदगीता के दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में तार्किक प्रत्यक्षवाद का उदाहरण प्रस्तुत किया है-

अशोच्यानन्व शोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गता सून गता सूंश्च मनानु शोचन्ति पण्डिता:।।

अर्थात श्रीकेशव ने कहा- तुम पाण्डित्यपूर्ण वचन कहते हुए उनके लिए शोक कर रहे हो, जो शोक करने योग्य नहीं हैं जो विद्वान होते हैं वे न तो जीवित के लिए न ही मृत के लिए शोक करते हैं। उक्त कथन तर्क आधारित है और अन्तत: इसकी सत्यापनशीलता सिद्ध होती है। तार्किक प्रत्यक्षवाद को समझने के लिए इसकी मीमांसाओं का विवेचन आवश्यक है।

तार्किक प्रत्यक्षवाद और इसकी मीमांसाऐं (Logical Positivism and Its Meemansa): ज्ञान के आत्मसातीकरण हेतु उसके दर्शन को जानना और दर्शन के अधिगमन हेतु उसकी तत्वमीमांसा (Meta Physics), ज्ञानवतर्कमीमांसा (Epistemology and Logic) एवं आचार व मूल्यमीमांसा को जानना आवश्यक है।

तत्वमीमांसा (Meta Physics): यह मानवीय इन्द्रियों को इतना महत्तव प्रदान करते हैं कि जिसका प्रत्यक्षीकरण इन इन्द्रियों द्वारा सम्भव है उसको सत्य स्वीकारते हैं आध्यात्मिकजगत, ईश्वर आदि को स्पष्ट रूप से नकारते हैं। इनके अनुसार मानवअर्जित ज्ञान व कौशल के आधार पर विकास करता है और भौतिक जगत सत्य है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। आध्यात्मिकजगत, आत्मा परमात्मा को प्रत्यक्ष अनुभव से परे मान अस्वी कारते हैं। इसी आधार पर तार्किक प्रत्यक्षवाद मानता है कि अतिमानव की आत्मा शुभ है।

ज्ञान व तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic): ये किसी भी पूर्व ज्ञान को तब तक ज्ञान नहीं मानते जबतक अनुभव व तर्क द्वारा वह सत्य स्थापित न हो जाए। तार्किक प्रत्यक्षवादी प्रत्येक ज्ञान को ता. र्किक रूप से तभी अधिगमन योग्य स्वीकारते हैं जब यह व्यावहारिकता सत्यापनीयता, इन्द्रियों द्वारा अनुभूति सत्यापनीयता व प्रत्यक्ष सत्यापनीयता की कसौटी पर खरा उतर सके।

8

उत्तरवर्ती विट्गेंस्टीन

प्र. उत्तरवर्ती विट्गेंस्टाइन की जीवन-रूप भाषा की अवधारणा की समर्थनीयता की स्थापना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: उत्तरवर्ती विट्गेंस्टाइन ने फिलासॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स में नियमित रूप से भाषा-खेल की अवधारणा का उल्लेख किया है। विटगेंस्टाइन ने इस विचार को खारिज कर दिया कि भाषा किसी प्रकार अलग है और वास्तविकता के अनुरूप है और उन्होंने तर्क दिया कि अवधारणाओं को अर्थ के लिए स्पष्टता की आवश्यकता नहीं है।

- विटगेंस्टाइन ने भाषा-खेल शब्द का प्रयोग किसी भाषा की संपूर्णता की तुलना में सरल भाषा के रूपों को निर्दिष्ट करने के लिए किया। विटगेंस्टाइन खेलों की चर्चा को एक भाषा खेल की प्रमुख धारणा में विकसित करते हैं। वह सरल उदाहरण का उपयोग करते हुए इस शब्द का परिचय देते हैं।
- भाषा के खेल का केन्द्रीय घटक यह है कि वे भाषा का उपयोग करते हैं। भाषा का उपयोग विविध तरीकों से किया जाता है उदारहण-एक भाषा खेल में, एक शब्द का उपयोग किसी वस्तु के लिए किया जा सकता है, लेकिन दूसरे में इसी शब्द का उपयोग-आदेश देने या प्रश्न पूछने के लिए किया जा सकता है।
- विटगेंस्टाइन इस बात को कहते हैं कि 'पानी' शब्द भाषा-खेल के अन्तर्गत इसके उपयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है।
- कोई इस शब्द का उपयोग किसी अन्य व्यक्ति को आपके लिए एक गिलास पानी लाने के आदेश के रूप में कर सकता है, लेकिन इसका उपयोग किसी को चेतावनी देने के रूप में भी किया जा सकता है कि पानी जहरीला हो गया है। एक गुप्त समाज के सदस्यों द्वारा शब्द को कोड के रूप में भी उपयोग किया जा सकता है।
- विटगेंस्टाइन भाषा के खेल की अपनी अवधारणा के अनुप्रयोग को शब्द-अर्थ तक सीमित नहीं रखते हैं। वह इसे वाक्य अर्थ पर भी लागू करते है। उदाहरण स्वरूप, वाक्य 'मूसा अस्तित्व में नहीं था" का अर्थ विभिन्न चीजों से हो सकता है। विटगेंस्टाइन का तर्क है कि स्वतंत्र रूप से उपयोग किये जाने वाले वाक्य अभी तक कुछ भी कह नहीं रहे हैं।
- किसी विशेष उद्देश्य के लिए महत्वपूर्ण न होने के अर्थ में यह अर्थहीन हैं, यह तभी महत्व प्राप्त करते हैं, जब हम इसे उपयोग के संदर्भ में ठीक करते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार, यह कुछ भी कहने में विफल रहता है, क्योंकि वाक्य अभी तक किसी विशेष उपयोग को निर्धारित नहीं करता है। वाक्य तभी सार्थक होता है, जब वह कुछ कहने के लिए प्रयोग किया जाता है।

प्र. क्या विट्गेंस्टीन के भाषा के चित्र-सिद्धान्त में चित्ररूप एवं तार्किक रूप में भिन्नता है? तार्किक रूप कैसे भाषा तथा यथार्थता के बीच सम्बन्ध को निर्दिष्ट करता है? व्याख्या कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: भाषा का चित्र सिद्धांत समकालीन दार्शनिक विटगेंस्टीन का है। विटगेंस्टीन ने अपनी पहली पुस्तक 'ट्रैक्टेटस' में इस सिद्धांत को प्रस्तुत किया। ट्रैक्टेट्स का मूल विषय है भाषा का स्वरूप तथा भाषा और जगत का विश्लेषण। विटगेंस्टीन का दावा है कि भाषा जगत के संबंध में जो कथन करती है, वह चित्र के रूप में होता है।

- किसी प्रतिज्ञप्ति के बोधगम्य होने का तात्पर्य ही है- भाषा में व्यक्त वस्तुस्थिति को देख लेना। यदि प्रतिज्ञप्ति वस्तुस्थिति का चित्रण न करे तो बोधगम्य नहीं होगी। चित्र सिद्धांत की मूल समस्या यही दिखाना है कि भाषा किस प्रकार जगत का चित्र का अर्थ न तो फोटोग्राफ है और न ही आइने का प्रतिबिम्ब।
- चित्र का अर्थ प्रतिरूपण है। भाषा अपने चिह्नों, प्रतीकों और आकारों के आधार पर वस्तुस्थिति का प्रतिरूपण करती है।
- जिस प्रकार चित्र को देखकर हम जान लेते हैं कि चित्रित वस्तु कैसी है, वैसे ही भाषा के माध्यम से हम जगत को जान लेते हैं।
- विटगेंस्टीन के अनुसार जगत वस्तुओं की नहीं तथ्यों की संपूर्णता है।
- तथ्य का अर्थ यह है कि जगत की वस्तुएं या 'विशेष' किस प्रकार आपस में संबंधित हैं। जिस क्रम में वस्तुएं परस्पर संयोजित है, वही तथ्य का आकार है।
- विटगेंस्टीन का दावा है कि जगत में विद्यमान वस्तुओं को संपूर्णता में ज्ञान लेने से जगत की जानकारी नहीं मिलेगी। इसके लिए वस्तुओं में निहित संबंधों तथा क्रम को जानना होगा। इसी अर्थ में उसने जगत को तथ्यों की समग्रता कहा है।
- विटगेंस्टीन ने भाषा का विश्लेषण भी किया है। भाषा प्रतिज्ञप्तियों की व्यवस्था है, जो प्रतिज्ञप्तियां सत्य या असत्य हैं, वे ही सार्थक हैं। शेष सभी निरर्थक/सार्थक प्रतिज्ञप्तियां तीन प्रकार की हैं-पुनर्कथन तथा व्याघात सार्थक होकर भी जगत से असम्बद्ध हैं- इनका उपयोग गणित व तर्कशास्त्र में ही है।

9

संवृतिशास्त्र (हुर्सल)

प्र. मनोविज्ञानवाद क्या है? प्रागनुभविक संवृतिशास्त्र सम्बन्धी अपने विमर्श में हसर्ल किस प्रकार मनोविज्ञानवाद की समस्या का परिवर्जन करते हैं? समालोचनात्मक विवेचना कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: हुसर्ल फनोमेनालॉजी की सम्यक् रूपेण स्थापना करने के लिए मनोवैज्ञानिकता का खण्डन करते हैं। हमारी सामान्य धारणा यह है कि मन चेतना आदि मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं तथा उनका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधारों पर ही किया जा सकता है। हुसर्ल ने अपने समय में यह पाया कि मनोवैज्ञानिक व्याख्या का क्षेत्र केवल मानसिक स्थितियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि दर्शन और विज्ञान को भी मनोवैज्ञानिक तत्वों के आधार पर समझने का प्रयास होता है। गणित एवं तर्क शास्त्र के नियमों की व्याख्या भी मनोवैज्ञानिक नियमों के आधार पर करने का प्रयास होता है। मनोविज्ञान की इसी व्यापकता को हुसर्ल मनोवैज्ञानिकता (Psychologism) कहते हैं।

उनके अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भ्रामक दृष्टिकोण है। इसकी आलोचना संबंधी निम्न मुख्य बिन्दु हैं-

1. हुसर्ल के अनुसार यदि मनोवैज्ञानिक व्याख्या को महत्व दिया गया तो फिर पूर्णत: तटस्थ एवं वस्तुनिष्ठ व्याख्या की संभावना ही समाप्त हो जायेगी। मनोवैज्ञानिक व्याख्या तटस्थ एवं वस्तुनिष्ठ नहीं होती।
   - पूर्व के विचारकों की यह मान्यता रही है कि प्रत्येक भाव वस्तुत: मनोवैज्ञानिक तत्वों से ही संरचित है। इस दृष्टि से यह व्याख्या एकांगी हो जाती है। इसके आधार पर सार्वभौमिकता की स्थापना नहीं की जा सकती।
   - हुसर्ल कहते हैं कि मनोविज्ञान के आधार पर गणित व तर्कशास्त्र के नियमों की व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि इनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने पर इनमें अनिवार्यता और सार्वभौमता नहीं आ पायेगी।
   - मनौवैज्ञानिक अनुभव क्षणिक होते हैं, परिवर्तनशील होते हैं। इसका यह परिणाम होगा कि जो भी निष्कर्ष निकलेगा वह संशयबाद से ग्रस्त हो जायेगा।
2. हुसर्ल के अनुसार मनोवैज्ञानिकता में एक प्रकार से पुनसुक्ति दोष भी विद्यमान है। जब तर्कशास्त्र एवं गणित जैसे वस्तुनिष्ठ शास्त्रों को मनोवैज्ञानिक तत्वों के आधार पर व्याख्यायित करते हैं तो वैसे प्रयत्न में पुनसुक्ति दोष आ जाता है। यहां कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत विषय के संदर्भ में कुछ अनुमान किया जाता है। किन्तु ऐसी प्रत्येक व्याख्या अनुमान पर ही आधारित होती है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या को भी अनुमान के निमयों को स्वीकार कर आगे बढ़ना पड़ता है। परन्तु ऐसी स्थिति में इससे तार्किकता की प्राथमिकता सिद्ध होती है। मनोवैज्ञानिकता की नहीं।
3. वर्तमान मनोवैज्ञानिकता आधुनिक विज्ञान से प्रभावित है। यहां मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों को पूर्णत: वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयास हो रहा है। परन्तु मनोविज्ञान को विज्ञान बनाने के क्रम में दो दोष दिखाई देते हैं-
   (i) विज्ञान के नकल करने मात्र से मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों में निश्चितता नहीं आ सकती, क्योंकि विज्ञान के निष्कर्ष भी पूर्णत: निश्चित नहीं होते। भविष्य में उनके असत्य होने की संभावना रहती है।
   (ii) विज्ञान के नकल के क्रम में मनोवैज्ञानिकता यह भूल जाती है कि उसके अन्वेषण का जो विषय है, वह विज्ञान के अथवा भौतिकी के अन्वेषण के विषय से भिन्न है। मनोविज्ञान जीवित मनुष्य की क्रियाओं-प्रक्रियाओं का अन्वेषण करता है। यह किसी खनिज पदार्थ के अन्वेषण या विश्लेषण से भिन्न है। हुसर्ल के अनुसार मनोवैज्ञानिकता की यह मूल भूल है।
4. मनोवैज्ञानिकता चेतना की व्याख्या स्नायु क्रिया, मांस पेशियों की गतिविधियां, उद्दीपन आदि मनोवैज्ञानिक तत्वों के आधार पर करने का प्रयास करता है। परन्तु ऐसी व्याख्या को व्याख्या कहने में कठिनाई है। वस्तुत: मनोविज्ञान व्याख्या के क्रम में जिसे नियम मान रहा है, वे कुछ अनुभविक तथ्यों के आधार पर किये गये सामान्यीकरण हैं। ऐसे सभी सामान्यीकरण संशय से परे नहीं हैं। यही कारण है कि इस प्रकार की प्रत्येक मनोवैज्ञानिक व्याख्या पर संशय होता है। उनसे निश्चयात्मकता की प्राप्ति नहीं हो सकती।
5. हुसर्ल के अनुसार, मनोवैज्ञानिकता के समर्थक इस भ्रांति में पड़ जाते हैं कि अभिरुचि, भावना आदि मनोवैज्ञानिक तत्व स्वत: सिद्ध है। इन्हें ऐसा नहीं माना जा सकता। इनकी स्वत: सिद्धातों के अंश को पाने के लिए उन्हें उनकी मनोवैज्ञानिकता से पूर्णतया परिष्कृत कर उनके मूल-आधे-प्रदत्त रूप को पकड़ने की चेष्टा करनी होगी तथा यह मनोवैज्ञानिकता का नहीं फेनोमेनालॉजी का लक्ष्य है।

10

अस्तित्वपरकतावाद

प्र. हाइडेगर के 'जगत में होना' सम्बन्धी विचार का समीक्षात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिये तथा मानव अस्तित्व (दाजाइन) के परिप्रेक्ष्य में (प्रामाणिकता) की समस्या की विवेचना कीजिये।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: हाइडगेर की मुख्य भूमिका 'होना' के विषय को उठाने में थी, अर्थात् चीजों को समझने की हमारी क्षमता का बोध कराने में हाइडेगर चिंतित थे कि दर्शन हमें सत् का अर्थ बताने में सक्षम होना चाहिए कि मानव कहां और क्या है?

- हाइडेगर के अनुसार जगत है और यह तथ्य स्वाभाविक रूप से आदिम घटना है। और सभी सत्तामूलक जांच का आधार है। हाइडेगर के लिए जगत यहीं, अभी और प्रत्येक जगह हमारे आस-पास है। हम इसमें पूरी तरह डूबे हुए हैं और आखिर हम 'अन्य' कहीं भी कैसे हो सकते हैं। हुसर्ल ने पहले एक जीवन-संसार की बात की थी, जो वास्तविकता के भीतर मानव संपुटन की दृढ़ता पर बल देता है, लेकिन हाइडेगर की ग्राउंडिंग अधिक पूर्ण थी। हाइडेगर ने इसको (बीइंग इन-द-वर्ल्ड) के साथ व्यक्त किया।
- हाइडेगर के लिए "मानव एक ऐसी इकाई है, जो अपने अस्तित्व में ही, उस अस्तित्व के प्रति समझदारी से स्वयं को ढाल लेती है।"
- हाइडेगर के लिए मानव प्रमाणिकता या अप्रमाणिकता किसी एक में उपस्थित हो सकता है, लेकिन मानव के चरित्र को बीइंग की स्थिति में उपस्थित होने के रूप में समझने की आवश्यकता है, जिसे उन्होंने 'बीइंग' कहा था।
- हाइडेगर के लिए बीइंग-इन-द-वर्ल्ड एकात्मक घटना के था। यद्यपि हाइडेगर जानते थे कि अभिव्यक्ति की संरचना में कई घटक होते हैं। जगत की सत्तामूलक संरचना की जांच करना और इसके इन-द-वर्ल्ड-नेस को परिभाषित करना कर्तव्य था। इसके अतिरिक्त 'हू' की पहचान जो मानव की औसत रोजमर्रा की विद्या के भीतर है, की तलाश की जानी चाहिए। और 'बीइंग-इन की सत्तामूलक स्थापना को प्रस्तावित करने की आवश्यकता है।

निष्कर्ष

हाइडेगर के अनुसार, अनेक विचार-विमर्श ने मानव की एक ठोस समझ विकसित की है, जिससे बीइंग-इन-द वर्ल्ड की औसत रोजमर्रा की जिंदगी सामने आती है। हाइडेगर ने महसूस किया कि हमारे बीइंग-इन-द-वर्ल्ड के सर्वनिर्धारक केन्द्र बिन्दु पर किसी का ध्यान नहीं जा रहा था, क्योंकि हमारे अस्तित्व की दैनिक वास्तविकताएं बहुत ही तुच्छ और असंख्य हैं। लेकिन हाइडेगर के लिए 'जानना' एक प्रकार का अस्तित्व था। इसके अतिरिक्त मानव केवल खोजकर्ता है, जब वह स्वयं वास्तविकता को समझता है।

प्र. सोरेन कीर्केगार्द 'विषयिनिष्ठता' की अवधारणा को किस प्रकार परिभाषित करते हैं? उनके द्वारा प्रतिपादित अस्तित्व की तीन अवस्थाओं के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: प्लेटो के समय से वर्तमान समय तक बुद्धिवादी और प्रकृति वादी दार्शनिकों तथा प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिकों ने सत्य को वस्तुनिष्ठता के रूप में जानने का प्रयास किया है, किन्तु अस्तित्ववाद के प्रणेता कीर्केगार्द ने स्पष्ट घोषणा की कि सत्य आत्मनिष्ठता है। आत्मनिष्ठता सत्य की कोटि नहीं है बल्कि सत्य आत्मनिष्ठता ही है। इसका प्रसिद्ध कथन भी है कि "मैं सत्य को तब तक नहीं जान सकता, जब तक कि वह मुझमें चरितार्थ न हो जाये।"

- कीर्केगार्द ने वैचारिक आत्मा और अस्तित्ववान आत्मा में भेद किया है और यह भेद प्राय: वैसा ही है, जैसा भारतीय दर्शन में जीवाश्म व विशुद्ध आत्मा का है। वैचारिक आत्मा को सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि सत्य जीने की अनुभूति करने की या झेलने की वस्तु है, न कि वस्तुनिष्ठ अवधारणा की। अनुभूति का क्षेत्र अस्तित्ववान आत्म का है, अत: सत्य का संबंध भी इसी से है।
- कीर्केगार्द के अनुसार वस्तुनिष्ठ पद्धति से सत्य पाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि सत्य की वस्तुनिष्ठ खोज में सिर्फ अनिश्चितता हाथ लगती है। यदि अनिश्चितता की यह चेतना हमें आंतरिक रूप से विल्वल कर देता तो इस अनिश्चियात्मकता का भी आत्मीयकरण हो जाता है और इस स्थिति में ठहराव प्राप्त होता है। इस ठहराव में सत्य उपलब्ध होता है जो अनिवार्यत: आंतरिक होता है। कीर्केगार्द ने ईश्वर के सत्य की उपलब्धि के उदाहरण से इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है।
- सत्य की आत्मनिष्ठा की सिद्ध करने के लिए कीर्केगार्द ने एक तर्क भी दिया है, उनके अनुसार दो आत्माओं या आत्मा और ईश्वर के मध्य वस्तुनिष्ठ संबंध होना संभव ही नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थिति में कम से कम किसी एक का आत्मनिष्ठ रूप खंडित हो जायेगा। अत: सत्य आत्मनिष्ठ ही हो सकता है।

10

क्वाइन एवं स्ट्रासन

प्र. स्ट्रॉसन के अनुसार आधारभूत विशेष क्या होते हैं? स्ट्रॉसन यह मानने के लिए क्या युक्तियां प्रस्तुत करते हैं कि 'पदार्थीय शरीर' तथा 'व्यक्ति' आधारभूत विशेष होते हैं? समालोचनात्मक विवेचना प्रस्तुत कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: स्ट्रॉसन जगत संबंधी विचारों की संरचना के विवरण के क्रम में मूल भाव या सार-केन्द्र को पकड़ने का प्रयास करते हैं। इन मूल भावों की पहचान इस तथ्य से होती है कि हर अन्य भाव इनकी अपेक्षा गौण है और किसी न किसी रूप में इसकी प्राथमिकता को स्वीकार किये हुए है। ऐसे मूल भावों में मौलिक रूप से कभी परिवर्तन नहीं होता। स्ट्रॉसन के अनुसार इन मूल भावों के अन्तर्गत भौतिक शरीर (Material bodies) तथा व्यक्ति (Person) आते हैं। भौतिक शरीर को वे मूल विशेष (Basic Particulars) कहते हैं। तथा व्यक्ति की अवधारणा को वे आध (primitive) कहते हैं।

- स्ट्रॉसन के अनुसार, मूल विशेष के वस्तुएं हैं जिनके अभिज्ञान के लिए उनसे भिन्न वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है, और यदि अन्य वस्तुओं की आवश्यकता अभिज्ञान के लिए पड़ती है तो यह भी मूल विशेष होती हैं। लेकिन जिन वस्तुओं का अभिज्ञान पहले प्रकार की वस्तुओं पर निर्भर है, वे मूल विशेष नहीं है।
- स्ट्रॉसन यह तर्क देते हैं कि किसी भी विशेष की पहचान का आधार यही है कि क्या हम उस विशेष को अपने काल या स्थान की दृष्टि से संबंधित विशेषों की व्यवस्था में स्थान दे सकते हैं। जब नये विशेषों की पहचान इन ज्ञात विशेषों की वैचारिक व्यवस्था के अनुरूप होता है तब वह नया विशेष भी इस व्यवस्था का अंग बन जाता है।
- स्ट्रॉसन के अनुसार पहचान की दृष्टि से कुछ ऐसे विशेष हैं जिन्हें प्राथमिक या मूल विशेष कहा जा सकता है अर्थात विशेषों की कुछ ऐसी कोटि हैं जिनके आधार पर ही अन्य विशेषों की पहचान की जा सकती है। दूसरी ओर उन विशेषों की पहचान के लिए अन्य विशेषों की पहचान आवश्यक नहीं होती। स्ट्रॉसन इस प्रकार के मूल विशेष के अन्तर्गत भौतिक शरीर को स्वीकार करते हैं।
- अपने उद्देश्यों की स्थापना के लिए स्ट्रॉसन विशेषों के कुछ उदाहरणों की परीक्षा करते हैं। इस क्रम में स्ट्रॉसन विश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग करते हैं। यहां इस विधि का मुख्य उद्देश्य यह दिखाना है कि कौन सा विशेष दूसरों पर निर्भर है और किसमें पर निर्भरता का भाव नहीं है।
- स्ट्रॉसन एक-एक करके अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि विश्लेषण के क्रम में अंततः भौतिक वस्तु ही एक ऐसी कोटि के रूप में शेष रह जाती है जो पर-निर्भरता से रहित है। स्ट्रॉसन ने भौतिक शरीर का मूल लक्षण स्पर्श को माना है, परन्तु इसे प्रत्येक संदर्भ में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणस्वरूप-प्रकाश, गैस आदि भी भौतिक वस्तुएं हैं, परंतु स्पर्श के आधार पर इनकी व्याख्या कठिन है।
- संशोधनात्मक तत्वमीमांसा के दृष्टिकोण से अनेक मूल विशेष हो सकते हैं परन्तु वर्णनात्मक तत्वमीमांसा और अभिज्ञान के दृष्टिकोण वे देखने पर स्ट्रॉसन का मत उचित प्रतीत होता है।

प्र. 'टू ड्रॉग्मास ऑफ एम्पीरीसिस्म' के सन्दर्भ में क्वाइन की मताग्रह रहित अनुभववाद की संकल्पना का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उत्तर: ब्रिटिश दार्शनिक एच.पी. ग्राइस एवं पी.एफ स्ट्रासन ने 'In Defence of a Dogma' में संश्लेषणात्मक व विश्लेषणात्मक अंतर को स्वीकार किया है और इस संदर्भ में क्वाइन द्वारा दिये गये मत का खण्डन किया है। इनके अनुसार क्वाइन विश्लेषणात्मकता की व्याख्या करने के लिए जिस निश्चित मानदंड की अपेक्षा करते हैं उसे अकारिक रूप से पूरा कर पाना संभव नहीं है।

- क्वाइन का अर्थ संबंधी समग्रताबाही सिद्धांत विवादास्पद है। समकालीन दार्शनिकों में भी इस बात को लेकर मतभेद है। यहां मूल समस्या यह है कि यदि हम वाक्यों को अन्य वाक्यों से पृथक रूप में नहीं जान सकते तब वैसी स्थिति में हम सम्प्रत्ययों पर भी तर्कतः विचार नहीं कर सकते।
- सैद्धान्तिक रूप से हम भले ही यह कह दें कि भाषा इकाई है लेकिन शब्दों और वाक्यों को सीखने के लिए तथा उनके तात्पर्य का निर्धारण करने के लिए उन्हें बमग्रता से पृथक करना आवश्यक है। अन्यथा न तो हम भाषा सीख पायेंगे और न ही भाषा की व्याख्या कर पायेंगे।

प्र. स्ट्रासन के मौलिक विशेष सिद्धान्त के सन्दर्भ में वस्तुनिष्ठ चिन्तन में देश-कालिक चिन्तन की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए। ***(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2020)***

प्रश्न की मांग: स्ट्रासन के मौलिक संप्रत्यय सिद्धांत को विस्तार से समझाना है।

उत्तर: स्ट्रासन के अनुसार व्यक्ति का संप्रत्यय एक मौलिक संप्रत्यय है। इसे मौलिक संप्रत्यय कहने का आशय है कि किन्हीं अन्य

12

चार्वाक

प्र. चार्वाक के अनुमान के विरोध में दिए गए आक्षेपों का नैयायिक किस प्रकार प्रत्युत्तर देते हैं तथा अनुमान को एक स्वतन्त्र ज्ञान-स्रोत के रूप में स्थापित करते हैं? समालोचनात्मक विवेचना कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: चार्वाक अनुमान को संदेहात्मक मानते हैं। अनुमान 'हो' शब्दों के योग से बना है- अनु और मान; यहां अनु का अर्थ पश्चात् और मान का अर्थ ज्ञान है। अर्थात् अनुमान का शाब्दिक अर्थ पश्चात् ज्ञान से है। अनुमान के अन्तर्गत दृष्ट हेतु से अदृष्ट साध्य की सिद्धि होती है। जैसे पर्वत पर दृष्ट घूम के ज्ञान से पर्वत पर अदृष्ट अग्नि का ज्ञान होना अनुमान है।

- अनुमान के लिए दो बातें आवश्यक है- पहला हेतु का पक्ष में होना और दूसरा हेतु और साध्य में व्याप्ति-संबंध होना। व्याप्ति ज्ञान अनुमान का कारण या साधन माना जाता है। क्योंकि अनुमान का निगमन इसी पर निर्भर करता है।
- चार्वाक का कथन है कि अनुमान तभी युक्तिपूर्ण तथा निश्चयात्मक हो सकता है, जब व्याप्ति वाक्य संशयरहित हो। चार्वाक अनुमान शब्द आदि प्रमाणों का खण्डन करते है।

आलोचना: चार्वाक द्वारा अनुमान के खण्डन के विरुद्ध मुख्य तर्क निम्न है-

1. यदि चार्वाक से यह प्रश्न पूछा जाये कि केवल प्रत्यक्ष को ही क्यों प्रमाण माना जाये तो वे या तो मौन रहेंगे या उत्तर देंगे कि अभ्रांत एवं निश्चयात्मक होने के कारण वह सर्वथा मान्य है।
   - यदि वे मौन रहते हैं तो स्पष्टत: उनके पास अपने मत के लिए कोई प्रमाण नहीं है। यदि वे दूसरे विकल्पों को स्वीकार करते हैं तो फिर से स्वयं अनुमान की सहायता लेते हैं क्योंकि कुछ प्रत्यक्षों के निश्चित ओर असंदिग्ध होने के कारण वे सभी प्रत्यक्षों के भी निश्चित एवं असंदिग्ध होने का अनुमान कर लेते हैं। इससे अनुमान प्रमाण की सत्यतता सिद्ध होती है।
2. प्रत्यक्ष प्रमाण के समर्थन में दी गई उनकी यह युक्ति की यह निर्विवाद और दोष रहित होता है, अनुमान एवं शब्द पर भी लागू होती है। इसलिए अनुमान और शब्द भी स्वीकार योग्य है। यदि चार्वाक यहां यह कहे कि अनुमान और शब्द कभी-कभी दोषयुक्त होते हैं, तो आक्षेप प्रत्यक्ष पर भी लगाया जा सकता है। क्योंकि कभी-कभी प्रत्यक्ष भी दोषयुक्त और भ्रमात्मक होता है, यथा रज्जू में सर्प का प्रत्यक्ष, सीपी में चांदी का प्रत्यक्ष।
3. व्यवहारिक जीवन की सफलता के लिए अनुमान को ज्ञान के यथार्थ साधन के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। दैनिक जीवन में तर्क-वितर्क, साध्य प्राप्ति हेतु साधनों का चयन वैज्ञानिक अनुसंधान आदि के लिए अनुमान आवश्यक है।
4. चार्वाक ने अनुमान का खण्डन जिन-जिन तर्को से किया है, वे तर्क कालान्तर में अनुमान की ही पुष्टि करते हैं। अनुमान का तत्व तर्क है। तर्क और अनुमान मानसिक क्रियाएं हैं। अत: दोनों अभौतिक हैं। चार्वाक अभौतिक सत्ताओं को स्वीकार नहीं करते। परन्तु उन्हें अपने निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए अभौतिक प्रक्रियाओं का सहारा लेना पड़ता है। सिद्धांत या विचार अभौतिक हैं। इसलिए उन्हें अनुमति ही किया जा सकता है। प्रत्यक्ष नहीं। स्पष्ट है कि अनुमान के अभाव में चार्वाक अपने विचार तक नहीं पहुंच सकते। अत: इस प्रकार नैयायिक अनुमान को एक स्वतंत्र ज्ञान स्रोत के रूप में स्थापित करते हैं।

प्र. बौद्ध दर्शन के सन्दर्भ में पुद्गल-नैरात्म्यवाद तथा धर्म-नैरात्म्यवाद के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: चार्वाक को छोड़कर अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा को नित्य, शाश्वत, अमरतत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। बौद्ध दर्शन का आनात्मवाद का सिद्धांत आत्मा संबंधी परंपरागत मतों से भिन्नता एवं विपरीतता को दर्शाता है। अनात्मवाद का सिद्धांत बौद्ध दर्शन के कारणा सिद्धांत प्रतीत्य समुत्पाद की तार्किक परिणति है।

- अनात्मावाद के अनुसार आत्मा नित्य, शाश्वत, अमर नहीं है अपितु वह भी सांसरिक वस्तुओं की भांति परिवर्तनशील है। यदि अनात्मवाद के शाब्दिक एवं संकीर्ण अर्थ को लिया जाये तो अनात्मवाद का आशय आत्मा के अस्तित्व के खंडन या इसकी अस्तित्वहीनता होगी। ऐसी स्थिति में यह सिद्धांत उच्छेदवाद के समतुल्य होगा। ऐसा मानने पर मध्यमा प्रतिपदा के उनके सिद्धांत का खंडन हो जायेगा। अत: अनात्मवाद का यह अर्थ अस्वीकार्य है।
- बुद्ध के अनुसार शाश्वत आत्मा में विश्वास उसी प्रकार हास्यास्पद है जिस प्रकार कल्पित सुन्दर नारी के प्रति अनुराग रखना हास्यास्पद है।
- नैरात्मयवाद दो प्रकार का है- 1. पुदगल नेरात्मय 2. धर्मनेरात्यम पुद्गल या जीवात्मा की केवल व्यवहारिक सत्ता है। वस्तुत: वह अनात्म अर्थात सापेक्ष है। इस ज्ञान से क्लेशावरण का क्षय होता है। हीनयान केवल पुद्गल नैरात्मय में विश्वास करता है।

13

जैन दर्शन

प्र. जैनों की कर्म की अवधारणा उनके मोक्षशास्त्र को किस प्रकार प्रभावित करती है? समालोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: जैन दर्शन में जीव के बंधन और मोक्ष के संबंध में विशद् विवेचना की गयी है। जैनों के अनुसार जीव स्वभावत: अनन्त चतुष्ट्य से युक्त है। परन्तु अज्ञान से अभिभूत होने के कारण वह वासनाओं से ग्रसित हो जाता है।

- ऐसी वासनाओं एवं कुप्रवृत्तियों को जैन दर्शन में 'कषाय' कहा गया है। ये वासनाएं मुख्यत: चार प्रकार की हैं- लोभ, क्रोध, मान और माया। इन वासनाओं के वसीभूत होकर जीव कर्म-पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। जीव का कर्म पुद्गलों से युक्त होना ही बंधन है, जबकि कर्म पुद्गलों से जीव का सर्वथा पृथक हो जाना ही जीव का मोक्ष है।
- जीव के साथ कर्म का संबंध और विच्छेद को बताने के लिए जैन दर्शन में पांच अवस्थाओं का वर्णन किया गया हैं- आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

आश्रव: कर्म-पुद्गलों का जीव की तरह प्रवाह ही आश्रव है। आश्रव दो प्रकार का माना गया है- भावास्रव और द्रव्यास्रव।

बन्ध: कर्म-पुद्गलों का जीव में प्रविष्ट कर इसे जकड़ लेना ही जीव का बंध है। बंध भी दो प्रकार का होता है- भाव बंध और द्रव्य बंध। मन में दूषित विचारों का आना भावबंध है और कर्म पुद्गलों का जीव से संयोग द्रव्यबंध है।

संवर: नये-कर्म पुद्गलों का जीव की ओर प्रवाह को रोकना संवर है। यह क्रिया आश्रव की क्रिया के विपरीत है। इसके द्वारा कर्म प्रवाह के मार्ग को बंद कर दिया जाता है। संवर भी दो प्रकार का होता है- भाव संवर और द्रव्य संवर।

निर्जवा: जो पुराने कर्म पुद्गल जीव में प्रवेश कर चुके हैं, उनका क्षय ही निर्जरा है। नये और पुराने कर्म पुद्गलों को पूर्णरूपेण नष्ट कर जीव कर्म पुद्गलों से छुटकारा पा लेता है, यह मुक्ति की स्थिति है। इस स्थिति में जीव अपने सहज सर्वज्ञ रूप में प्रकाशित होने लगता है।

मोक्ष प्राप्ति के मार्ग: जैन दर्शन में त्रिरत्न अर्थात् सम्यक दर्शन, सम्य ज्ञान और सम्यक चरित्र ये तीन मोक्ष प्राप्ति के मार्ग माने गये हैं। जैन दर्शन के ये त्रिरत्न साथ-साथ रहते हैं और तीनों सम्मिलित रूप से मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। उमास्वामी ने स्पष्ट किया है-

"सम्यक-दर्शन-ज्ञान-चारिश्राणि मोक्ष-मार्ग:"

सम्यकदर्शन: जैन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धांतों एवं तत्वों के प्रति श्रद्धा की भावना ही सम्यक दर्शन है।

सम्यकज्ञान: जैन दर्शन के सिद्धांतों एवं तत्वों का यथार्थ ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है।

सम्यक्चरित्र: यथार्थ ज्ञान के अनुसार आचरण करना, अर्थात् सद्कर्मों का सम्पादन एवं दुष्कर्मों का बहिष्कार ही सम्यक चरित्र कहलाता है। सम्यक् चरित्र के लिए पंच समितियों, तीन गुप्तियों, पंचमहाव्रतों दस धर्मों आदि का पालन करना आवश्यक है।

प्र. 'निरपेक्ष को अभिगृहीत किये बिना जैन दर्शन का सापेक्षतावादी सिद्धान्त तार्किक रूप से धारणीय नहीं हो सकता।' इस मत का समीक्षात्मक परीक्षण कीजिये तथा अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिये। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: स्याद्वाद भाषा की एक निर्दोष प्रणाली जिसके द्वारा अनेकतावाद का समर्थन किया जाता है। यह स्याद्वाद जैन दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धांत है। जो जैनों के परामर्श संबंधी मत को प्रकट करता है। इसके अनुसार हमारा समस्त ज्ञान सापेक्षतया सत्य होता है। इसका कारण है कि विश्व की अनेक वस्तुओं और इनमें से प्रत्येक वस्तु में विद्यमान अनेक धर्मों का ज्ञान साधारण मनुष्य किसी एक समय में नहीं कर सकता है। वस्तुओं और उनके अनन्त धर्मों का अपरोक्ष ज्ञान केवल केवली को ही केवल ज्ञान द्वारा होता है। साधारण मनुष्य का ज्ञान आंशिक एवं अपूर्ण होता है।

- साधारण मनुष्य किसी वस्तु को किसी समय एक ही दृष्टि से देख सकता है। वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक धर्म के ज्ञान को इस ज्ञान की न्याय वाक्य में अभिव्यक्ति को (नय) कहा जाता है। नय वस्तु के एक धर्म का विधान करता है; परन्तु वह वस्तु के अन्य धर्मों का निषेध करता है। आंशिक ज्ञान होने से यह दुर्णय तो नहीं है किन्तु प्रमाण की कोटि में नहीं आता। क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता का स्पष्ट रूप से प्रकाशन नहीं किया गया है।
- किसी वस्तु के लिए यह कथन कि यह स्यात् सत् है, 'प्रमाण' है क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता और सापेक्षता प्रकाशित होती है। यहां स्याद् का तात्पर्य संशय, संभावना या अनिश्चित सत्ता नहीं है। यहां स्याद् शब्द ज्ञान की सापेक्षता का सूचक है। स्याद् शब्दयुक्त कथन एक विशेष दृष्टिकोण, परिस्थित देश और काल के संदर्भ में कथन की सत्यता को बताता है।

14

बौद्ध दर्शन

प्र. बौद्धों का क्षणिकवाद सिद्धांत उनके कर्म सिद्धान्त से कितना सुसंगत है? इस सम्बन्ध में बौद्ध उनके प्रतिपक्षियों द्वारा उत्थापित आक्षेपों का उत्तर किस प्रकार देते हैं? समालोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: बौद्ध दर्शन के कारणता सिद्धांत 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का ही तार्किक विकास क्षणिकवाद है। इसके विकास का क्रम है-

प्रतीत्यसमुत्पाद → अनित्यवाद → क्षणिकवाद

क्षणिकवाद की सिद्धि के लिए अर्थक्रियाकारित्व का तर्क दिया जाता है। अर्थक्रियाकारित्व का अर्थ है कि किसी वस्तु की सत्ता को तभी तक माना जा सकता है, जब उसमें अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति या क्षमता हो। कहा भी गया है-

"अर्थक्रियाकारित्व लक्षण सत्"

- जब किसी वस्तु में अन्य वस्तु को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, तब वह क्षणिक होती है। यदि वह स्थायी एवं अपरिवर्तन शील होती तो फिर उसमें किसी वस्तु की उत्पत्ति करने की शक्ति नहीं होती। फलस्वरूप इसकी सत्ता भी नहीं होती। उदाहरण के लिए बीज क्षणिक है और इसलिए सत् है।
- यदि बीज को अंकुर में परिवर्तित होने से पहले की स्थिति में निष्क्रिय मान ले तो फिर उससे अंकुर जैसी सद्वस्तु की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। यदि बीज को नित्य माने तो इससे पौधे की उत्पत्ति निरंतर होती रहती है। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। बीज अंकुर या पौधे को उत्पन्न करने के पूर्व भी प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है।
- इन क्षणों में यह प्रत्येक अगले क्षण में अपने सुदृश्य बीज को उत्पन्न करता रहता है। इस प्रकार बीज कभी निष्क्रिय नहीं होता। जब वह बीज मिट्टी एवं जल आदि को पाकर अंकुर के रूप में परिवर्तित होता है तो अब केवल परिवर्तन या संतान का रूप बदल जाता है। परन्तु परिवर्तन का स्वरूप बदलने पर भी वह पूर्व की भांति क्षण-क्षण परिवर्तित होता रहता है।
- बीज की तरह ही संसार की सभी वस्तुओं का अस्तित्व भी क्षणमात्र होता है। बौद्ध दर्शनिक जब इस सार्वभौम परिवर्तन के सिद्धांत को आत्मा पर लागू करते हैं तो आत्मा भी विज्ञानों के प्रवाह के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

आलोचना

1. क्षणिकवाद को मानने से स्मृति एवं प्रत्यक्ष की व्याख्या कठिन हो जायेगी।
2. शंकर के अनुसार क्षणिकवाद बंधन और मोक्ष की स्थिति को असंभव बना देता है।
3. क्षणिकवाद कर्म-नियम का खण्डन करता है।
4. क्षणिकवाद के आधार पर कार्य-कारण का संबंध भी तर्कत नहीं समझाया जा सकता। यदि एक कारण एक ही क्षण रहता है और अगले क्षण नष्ट हो जाता है तो फिर इससे कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

प्र. बौद्ध दर्शन की त्रिरत्न की अवधारणा तथा इनके अन्तः सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये। बौद्ध दर्शन के नैरात्म्यवाद के साथ त्रिरत्न की सुसंगतता का समीक्षात्मक परीक्षण कीजिये।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: चार्वाक को छोड़कर अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा को नित्य, शाश्वत् अमर तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद का सिद्धांत आत्मा संबंधी परंपरागत मतों से भिन्नता एवं विपरीतता को दर्शाता है।

- अनात्मवाद का सिद्धांत बौद्ध दर्शन के कारणता सिद्धांत प्रतीत्यसमुत्पाद की तार्किक परिणति है। अनात्मवाद् के अनुसार आत्मा नित्य, शाश्वत अमर नहीं है, अपितु वह भी सांसारिक वस्तुओं की भांति परिवर्तनशील है। यदि अनात्मवाद के शाब्दिक एवं संकीर्ण अर्थ को लिया जाये तो अनात्मवाद का आशय आत्मा के अस्तित्व के खण्डन या उसकी अस्तित्वहीनता होगा।
- ऐसी स्थिति में यह सिद्धांत उच्छेदवाद के समतुल्य होगा। ऐसा मानने पर मध्यमा प्रतिपदा के उनके सिद्धांत का खंडन हो जायेगा, अत: आत्मवाद का यह अर्थ अस्वीकार्य हैं।
- बुद्ध के अनुसार शाश्वत आत्मा में विश्वास उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार कल्पित सुन्दर नारी के प्रति अनुराग रखना हास्यास्पद है।
- बुद्ध के अनुसार शाश्वत आत्मा मन और शरीर को संकलन या समुच्चयमात्र है। इस संकलन में भी प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहते हैं।
- बौद्ध धर्म उपदेशक नागसेन, 'मिलिन्दप्रश्न, में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार धुरी, चक्के रस्सियों, घोड़े आदि के संघात विशेष को रथ कहा जाता है।

15

न्याय-वैशेषिक

प्र. वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'सामान्य' की सत्तामीमांसात्मक स्थिति क्या है? समीक्षात्मक परीक्षण कीजिये।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार - 'सामान्य' वह पदार्थ है, जिसके कारण एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों को एक जाति के अन्तर्गत रखा जाता है। उदाहरण स्वरूप राम, मोहन आदि विभिन्न मनुष्यों में पाया जाने वाला मनुष्यत्व, विभिन गांवों में पाया जाने वाला गोत्व।

वस्तुवादी होने के कारण वैशेषिक दर्शन सामान्य की वस्तुगत सत्ता स्वीकार करता है। इसी सामान्य को पाश्चात्य दर्शन में सर्वव्यापकता या पूर्णव्यापकता के नाम से प्राय: जाना जाता है।

'सामान्य पदार्थ है, गुण नहीं'

वैशेषिक दर्शन में सामान्य को एक स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। गुण नहीं। इसके लिए वैशेषिक दर्शन में निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं-

1. गुण के लिए सामान्य का होना आवश्यक नहीं है। कोई एक गुण एक वर्ग के सभी सदस्यों में नहीं रहता। उदाहरण स्वरूप शब्द केवल आकाश का गुण है; किसी जाति विशेष का नहीं। इसलिए सामान्य को गुण का एक भेद मानना ठीक नहीं है।
2. अगर सामान्य को गुण मान लिया जाये तो इसका क्षेत्र सीमित हो जायेगा। परिणामस्वरूप सामान्य का भी अस्तित्व नहीं रह पायेगा। सामान्य गुण के अलावा द्रव्य एवं कर्म में भी रहता है। जबकि कर्म में गुण नहीं होता।
3. सामान्य का स्तर नित्य है; जबकि गुण का अंत भी हो सकता है। इस प्रकार सामान्य एक प्रकार का गुण नहीं, बल्कि एक स्वतंत्र पदार्थ है।

सामान्य की निम्न विशेषताएं हैं-

- सामान्य की यथार्थ सत्ता है।
- सामान्य नित्य, एक और अनेक वस्तुओं में समविष्ट है।
- एक वर्ग के सभी व्यक्तियों में एक ही सामान्य होता है।
- सामान्य अनादि और अनंत है।
- सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है।
- सामान्य का सामान्य नहीं होता है। सामान्य का भी सामान्य मानने पर अनवस्था-दोष की उत्पत्ति हो जायेगी।

सामान्य के संदर्भ में भारतीय दर्शन में तीन प्रमुख मत दिखाई देते हैं-

बौद्ध मत: बौद्धों के अनुसार सामान्य अथवा जाति कोई पृथक पदार्थ नहीं है। क्षणभंगवादी होने के कारण वे सामान्य जैसे नित्य पदार्थ को नहीं मानते। उनके अनुसार केवल व्यक्ति ही सत् है और व्यक्तियों के अतिरिक्त सामान्य अथवा जाति की कोई सत्ता नहीं है। जैसे मनुष्य या वह मनुष्य वास्तविक है; परन्तु मनुष्यत्व का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में जो तादात्मय दिखाई देता है, वह एक नाम रहने के कारण है। सामान्य नाममात्र है।

- अद्वैतवादियों के अनुसार व्यक्तियों के अतिरिक्त और उनसे भिन्न सामान्य की सत्ता नहीं है। व्यक्ति का सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म ही सामान्य है। सामान्य व्यक्तियों का आंतरिक स्वरूप है, जिसे बुद्धि ग्रहण करती है।

न्याय-वैशेषिक: इन सबसे पृथक सामान्य के संदर्भ में वस्तुवाद का प्रतिपादन करते हैं। इनके अनुसार सामान्य की सत्ता का आधार यह है कि वह अन्य पदार्थों के समान ज्ञान का विषय होता है। एकाकारिता के प्रत्यय की व्याख्या वैशेषिक दर्शन के अनुसार सामान्य पदार्थ को मानकर की जा सकती है।

प्र. क्या बीज में वृक्ष अंतर्निहित होता है? न्याय-वैशेषिक दर्शन के संदर्भ में विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: न्याय-वैश्विक असत्कार्यवादी हैं। इनके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता। निमित्व कारण की क्रिया से इसकी उत्पत्ति होती है। किसी वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव होता है, उसे प्रागभाव कहते हैं।

- कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उपादान-कारण में कार्य का अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए उस समय उपादान में कार्य का प्रागभाव रहता है। जिसका अभाव होता है उसे अभाव का प्रतियोगी कहते हैं।
- इसलिए न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्राभभाव के प्रतियोगी को कार्य कहा जाता है। कार्य एक नवीन सृष्टि है। इसकी सत्ता का आरंभ उसकी उत्पत्ति के साथ ही लेता है। इसलिए यह आरंभवाद कहा जाता है।
- किसी कार्य की उत्पत्ति जिसके बिना न हो सके, वही उस संदर्भ में कारण है। कारण के लिए यह अनिवार्य है कि वह कार्य की उत्पत्ति से अत्यवहित पूर्ण क्षण में विद्यमान हो। इसलिए न्याय-दर्शन में कारण को निमत, कार्य का पूर्ववर्ती एवं अन्यथा सिद्ध से रहित माना गया है। तर्क भाषा में कहा गया है- "अन्यथा सिद्ध नियतपूर्व भावित्य कारणत्वम्।"

16

सांख्य दर्शन

प्र. पुरुष की सत्ता सिद्धि हेतु सांख्य दर्शन में प्रदत्त प्रमाणों का परीक्षण एवं मूल्यांकन कीजिये।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: सांख्य दर्शन में दूसरा स्वतंत्र तत्व पुरुष है। साधारणत: जिस सत्ता को अधिकांश भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा कहा है, उस सत्ता को सांख्य ने पुरुष की स्वतंत्र सत्ता हेतु निम्न युक्तियां दी गई हैं-

"संघातपरार्थत्वात् त्रिशुणादिविपर्ययादडधिष्ठानात्।
पुरुषोस्ति भोक्तृभावात कैपल्यार्थ प्रवृतेश्च।।"

इसका निहितार्थ इस प्रकार है-

1. संसार की समस्त वस्तुएं संघातमय है। इन वस्तुओं का निर्माण दूसरे के उद्देश्यों के लिए किया गया है। ये जिनके उद्देश्य के साधन है वे अचेतन नहीं हो सकते। चूंकि अचेतन का कोई उद्देश्य ही नहीं अत: संघातों के अतिरिक्त चेतन पुरुष अवश्य है। यह प्रयोजन मूलक तर्क है।
2. संसार की समस्त वस्तुएं त्रिगुणात्मक है। अत: तार्किक दृष्टिकोण से ऐसे तत्व का रहना अनिवार्य है, जो इन गुणों से रहित है; जैसे सगुण, निर्गुण की ओर तथा अचेतन, चेतन की ओर संकेत करता है। वैसे ही त्रिगुण अत्रिगुण की ओर संकेत करता है। यह संकेत पुरुष की ओर है, जो विभिन्न गुणों का साक्षी है, किन्तु स्वयं इनसे परे हैं। यह तार्किक प्रमाण है।
3. हमारा लौकिक ज्ञान, सुख-दु:ख का अनुभव, बुद्धि आदि सारी चित्तवृत्तियां ज्ञाता की ओर संकेत करती हैं, जो समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। अत: ज्ञान और समस्त अनुभव के अधिष्ठान के रूप में पुरुष की सत्ता प्रमाणित है। यह सत्ता मूलक तर्क कहा जाता है।
4. प्रकृति तथा उनसे निर्मित समस्त वस्तुएं जड़ होने के कारण भोग्य हैं। वे स्वयं अपना उपभोग नहीं कर सकते। इसके लिए चेतन भोक्ता की सत्ता अनिवार्य है। यह चेतन भोक्ता पुरुष है। यह नीतिशास्त्रीय प्रमाण है।
5. विश्व में कुछ आध्यात्मिक स्वभाव के ज्ञानी पुरुषों में मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा होती है। मुक्ति की कामना भौतिक विषयों के लिए संभव नहीं है; क्योंकि वे दुखात्मक और अचेतन है। अत: मोक्ष की कामना चेतन एवं अशरीरी सत्ता द्वारा ही संभव है, यह सत्ता पुरुष है। यदि पुरुष नहीं है तो मोक्ष निरर्थक है। अत: यह आध्यात्मिक प्रमाण है।

प्र. मध्वाचार्य की मोक्ष की अवधारणा रामानुजाचार्य की अवधारणा से कैसे भिन्न है? व्याख्या कीजिये।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: माध्वाचार्य के अनुसार जीव वास्तविक कर्ता और भोक्ता होते हुए भी परतंत्र है। परंतु अविधा के कारण जीव अपने स्वरूप को स्वयं को स्वतंत्र समझने लगता है। परिणामस्वरूप वह बंधनयुक्त होता है। मध्वाचार्य का यह मानना है कि अविधा कर्म, प्रकृति आदि बंधन के कारण केवल गौण रूप से ही हैं। वास्तव में जीव का बंधन ईश्वर की इच्छा के कारण ही होता है।

- मध्वाचार्य के अनुसार अविधा, कर्म, प्रकृति आदि सभी अचेतन और सादि हैं। इनका क्रियान्वयन चेतन आत्मा ही कर सकती है। अत: इनके दर्शन में ईश्वरीय इच्छा ही मानव बंधन का अंतिम कारण है। माध्वाचार्य के अनुसार जीव का बंधन सत्य है। वह काल्पनिक या मिथ्या नहीं है, जैसा कि शंकर मानते हैं। यदि मानव बंधन काल्पनिक होता तो शास्त्र इसे दूर कर मोक्ष प्राप्त करने का आदेश नहीं देते।
- माध्वाचार्य के अनुसार बंधन से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। मोक्ष में जीव अपने वास्तविक शुद्ध रूप में अवस्थित हो जाता है। माध्वाचार्य के अनुसार जीव मोक्ष की स्थिति को तभी प्राप्त करता है, जब अपरोक्ष ज्ञान के साथ-साथ ईश्वरीय कृपा भी प्राप्त हो। अपरोक्ष ज्ञान ब्रह्म, जीव और जगत के बीच के भेद का ज्ञान है। ईश्वर कृपा प्राप्त करने के लिए जीव को वैराग्य, शम, दम, नियम, शरणागति, भक्ति, उपासना आदि का सहारा लेना पड़ता है।
- जब जीव ईश्वर के प्रति विनम्रता, भक्ति, अर्पण, वन्दन आदि करता है तो ईश्वर उसे मुक्तिदायक भेद का ज्ञान प्रदान कराता है और उसे मुक्त कर देता है। इस प्रकार बंधन के साथ-साथ मोक्ष का भी कर्ता ईश्वर ही है। मोक्ष की अवस्थिति में न केवल दुखों का नाश हो जाता है, अपितु आनंद की अनुभूति भी होती है। अन्य वैष्णव वेदान्तियों की भांति माध्वाचार्य का भी मानना है कि मोक्ष की सर्वोच्च अवस्था में भी आत्मा अपनी वैयक्तिकता को बनाए रखती है। जीव अपनी वैयक्तिकता को कायम रखते हुए ईश्वर की भक्ति करता रहता है।
- भक्ति के लिए भक्त एवं उपासक का द्वैत आवश्यक है। मदद के अनुसार मोक्ष चार प्रकार का है- कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, आर्चिमार्ग और भोग। भोग भी चार प्रकार के हैं- सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य। माध्वाचार्य अन्य वैष्णव वेदान्तियों के समान ही क्रमिक मुक्ति को स्वीकार करते हैं।

17

योग

प्र. पातञ्जल योग के अनुसार समाधि के स्वरूप एवं विविध स्तरों का विवेचन कीजिये तथा इसमें ईश्वर की भूमिका का परीक्षण कीजिये। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: सांख्य दर्शन की भांति योग में भी विवेक ज्ञान को मुक्ति का साधन माना गया है। पुरुष जब अपने को प्रकृति से भिन्न समझ लेता है। तब वह बंधन मुक्त हो जाता है। यह कैवल्य की स्थिति है। विवेक ज्ञान की प्राप्ति के लिए योग में आठ साधनों की विवेचना की गई है। इसलिए इसे अष्टांग योग या अष्टांग साधन कहा जाता है।

- इन आठ अंगों का पालन कर साधक चित्तवृत्तियों का विरोध कर कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। अष्टांग योग ये हैं-

(i) यम, (ii) नियम, (iii) आसन, (iv) प्राणायम, (v) प्रत्याहार, (vi) धारणा, (vii) ध्यान, (viii) समाधि।

स्पष्ट है कि समाधि योग साधन की अंतिम सीढ़ी है। यह अष्टांग योग का आठवां और अंतिम अंग है। इसका योग दर्शन में विशेष महत्व है। कभी-कभी इसे ही योग कह दिया जाता है- "योग : समाधि"।

- समाधि का अर्थ है एकाग्र करना। योग दर्शन में इसका आशय है- मन को एकाग्र करना। इसमें मन को विक्षेपों से हटाकर एकाग्र किया जाता है। अष्टांग योग में जहां प्रथम पांच योग के बाह्य साधन हैं, वहीं अंतिम तीन अंतरंग साधन माने गये हैं।
- योग दर्शन में समाधि को दो रूपों में रखा जाता है। एक अर्थ में समाधि एक मनोवैज्ञानिक क्रिया है तो दूसरे अर्थ में वह एक यौगिक क्रिया है। पहले अर्थ में समाधि विरोध की प्रक्रिया है, जिसमें चित्त की वृत्तियों का विरोध पाया जाता है। दूसरे अर्थ में समाधि चित्तवृत्ति विरोध परिणाम है। इन दोनों अर्थों में कोई मौलिक विरोध नहीं हैं। इनमें एक साधन है और दूसरा साध्य है।
- योग दर्शन में समाधि की दो अवस्थाएं स्वीकार की गई है पहला सम्प्रज्ञात समाधि और दूसरा असम्प्रज्ञात समाधि।

1. **सम्प्रज्ञात समाधि:** सम्प्रज्ञात समाधि में कोई न कोई स्थूल या सूक्ष्म रूप चित्त का आलम्बन रहता है। बिना आलम्बन के कोई भी ध्यान प्रारंभिक अवस्था में नहीं हो सकता। चूंकि इस समाधि में संस्कारों का बीज या आलंबन बना रहता है जो फिर संसार की ओर ला सकता है। इसलिए इसे सबीज समाधि भी कहते है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार सोपान हैं-
   - **(i) सवितर्क समाधि:** इस अवस्था में किसी स्थूल विषय पर (चन्द्रमा पर, नाक के उग्र भाग आदि पर) ध्यान केंद्रित किया जाता है।
   - **(ii) सविचार समाधि:** सूक्ष्म वस्तुओं के वाद सूक्ष्मतर वस्तुओं पर (इंद्रियों पर) ध्यान लगाया जाता है। यहां एकादश इंद्रियों द्वारा प्राप्त अनुभूति आनंददायक होती है।
   - **(iv) सास्मित समाधि:** यह समाधि की अंतिम एवं पूर्ण अवस्था है। यहां स्थूल या सूक्ष्म विषयों पर ध्यान न देकर साधक को अहंकार पर ध्यान लगाना पड़ता है। अहंकार अस्मिता है। इसलिए इस समाधि को सास्मित समाधि कहा जाता है।
2. **असम्प्रज्ञात समाधि:** सम्प्रज्ञात समाधि में कोई स्थूल या सूक्ष्म विषय चित्त के आलंबन के रूप में रहता है, परन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में कोई भी आलंबन शेष नहीं रहता। यहां ध्यान का विषय अर्थात ध्येय भी लुप्त हो जाता है। यहां चित्त का कोई आधार या आलंबन नहीं रहता, इसलिए इसे निर्बीज समाधि भी कहा जाता है।
   - यहां पुरुष प्रकृति से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह प्रकृति या उसके विकारों से प्रभावित नहीं होता। वह सांसारिक बंधनों से पूर्णत: मुक्त होकर कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। इस स्थिति में योगी परम पुरुषार्थ को पा लेता है। वह सभी प्रकार के बंधन से मुक्त हो जाता है।
   - योग मतानुसार ईश्वर एक नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, पूर्ण, अनन्त एवं त्रिगुणातीत सत्ता है। वह ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा है। वह गुरुओं का भी गुरु है।

निष्कर्ष

योग दर्शन में ईश्वर का व्यवहारिक महत्व है। चित्त की वृत्ति का विरोध योग का उद्देश्य है। इसके लिए ईश्वर प्राणिधान आवश्यक है। ईश्वर ध्यान का सर्वश्रेष्ठ विषय है। ईश्वर प्रणिधा से समाधि की सिद्धि शीघ्र हो सकती है। ईश्वर योग मार्ग में आने वाली रुकावटों को दूर कर कैवल्य प्राप्ति का रास्ता प्रशस्त करता है।

प्र. योग दर्शन के अनुसार क्लेशों के स्वरूप की व्याख्या कीजिए। उनके निराकरण से किस प्रकार कैवल्य उपलब्ध होता है?
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: योग दर्शन के अनुसार जब पुरुष बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब के साथ तादात्मय संबंध या एकाकारिता स्थापित करता है, तब वह बुद्ध जीव के रूप में प्रतीत होने लगता है। वह जन्म मरण चक्र में पड़ा रहता है और नाना प्रकार के क्लेशों को भोगता है।

18

मीमांसा

प्र. मीमांसक न्याय के इस मत का कि अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है, किस प्रकार खण्डन कर अर्थापत्ति की एक स्वतन्त्र वैध ज्ञान स्रोत (प्रमाण) के रूप में स्थापना करते हैं? समालोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: न्याय-दर्शन द्वारा स्वीकृत दूसरा प्रमाण 'अनुमान' है। अनुमान शब्द 'अनु' और 'मान' के योग से बना है। अनु का अर्थ है पश्चात् और मान का अर्थ है 'ज्ञान'। अत: अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं, जो किसी पूर्व ज्ञान के पश्चात और उसी पर आधारित होकर उत्पन्न होता है। जैसे धुएं को देखकर आग का अनुमान। स्पष्ट है कि अनुमान वह ज्ञान है, जिसमें ज्ञात से अज्ञात की ओर, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर जाया जाता है।

- अनुमान का आधार और प्राण व्याप्ति है। व्याप्ति दो वस्तुओं या घटनाओं का नियत सार्वभौम संबंध है। जैसे- जहां-जहां धुंआ, है वहां आग है। इस व्याप्ति ज्ञान के होने के कारण ही धुएं को देखकर आग का अनुमान किया जाता है।
- न्याय दर्शन के चार प्रमाणों के अतिरिक्त प्रभाकर और कुमारिल अर्थापत्ति को भी एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। दो तथ्यों के विरोधाभास को दूर करने के लिए किसी बात का अभ्युपगम या कल्पना कर लेना ही अर्थापत्ति है। उदाहरण-स्वरूप "मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता" इस वाक्य के दो तथ्यों अर्थात मोटा होने और दिन में न खाने के विरोधाभास को दूर करने के लिए देवदत्त के रात में खाने की अर्थ कल्पना की जाती है। यही अर्थापत्ति है।
- मीमांसाकों के अनुसार अर्थापत्ति का अर्न्तभाव किसी अन्य प्रमाण में नहीं किया जा सकता है। यह अन्य प्रमाणों से भिन्न स्वतंत्र प्रमाण है। मीमांसक इसके लिए निम्न तर्क देते हैं-
- अर्थापत्ति से प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न है, क्योंकि यहां वन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं होता। प्रस्तुत उदाहरण में हमने देवदत्त को रात में भोजन करते हुए नहीं देखा है।

प्र. ज्ञान की स्वत:प्रामाण्यता की स्वीकृति के बावजूद प्रभाकर एवं कुमारिल भ्रमात्मक ज्ञान की व्याख्या में क्यों और कैसे भिन्न हैं? विवेचना कीजिये।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: भारतीय दर्शन में भ्रम के संबंध में गहन विवेचना की गई है। भ्रम संबंधी विभिन्न सिद्धांतों को ख्यातिवाद कहा गया है। ख्याति शब्द का शाब्दिक अर्थ है- ज्ञान, परन्तु भारतीय दर्शन में यह भ्रम ज्ञान के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

- भ्रम की उत्पत्ति और स्वरूप को लेकर भारतीय दर्शन में मतभेद है। इसका मुख्य कारण इन विभिन्न दर्शनों की अपनी पृथक-पृथक मौलिक मान्यताएं हैं।

मीमांसा दर्शन में इस संबंध में दो मत है।

(1) प्रभाकर का अख्यातिवाद, (2) कुमारिल का विपरीत ख्यातिवाद।

अख्यातिवाद: प्रभाकर दृढ़ वस्तुवादी है। अत: उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान सत्य होता है, एकोई ज्ञान असत्य नहीं होता। अख्याति का शाब्दिक अर्थ है- ज्ञान का अभाव। प्रभाकर के अनुसार भ्रम एक ज्ञान या समग्र ज्ञान या मौलिक ज्ञान नहीं है। बल्कि दो ज्ञानों का योग है। इसमें एक प्रत्यक्ष ज्ञान है और दूसरा स्मरण ज्ञान। भ्रम में प्रत्यक्षगम्य रस्सी को पूर्वकाल में देखी गई वस्तु सर्प की स्मृति के साथ समन्वित कर देते हैं।

- स्मृति दोष के कारण हम यह भूल जाते हैं कि सर्प स्मृति का विषय है। स्पष्ट है कि स्मृति प्रमोष के कारण प्रत्यक्ष और स्मृति में भेद के ज्ञान का ग्रहण नहीं हो जाता है, जिसके कारण भ्रम होता है। इसलिए इसे भेदाग्रह भी कहा जाता है।

प्रभाकर के अनुसार भ्रम के दो घटक होते हैं:

(1) भावात्मक, (2) अभावात्मक।

- भावात्मक घटक दो पृथक-पृथक विषयों के आंशिक ज्ञानों की उपस्थिति है। अभावात्मक घटक इन दोनों आंशिक ज्ञानों एवं उनके विषयों के भेद का अज्ञान है।
- अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न है, क्योंकि अनुमान हेतु को देखकर निगमन (फल) की ओर जाता है। अर्थापत्ति फल देखकर हेतु की कल्पना करता है। पुन: अर्थापत्ति के लिए व्याप्ति संबंध को होना आवश्यक नहीं है।
- यह शब्द प्रमाण से भी भिन्न है, क्योंकि किसी आप्त वचन के द्वारा हमें यह बात मालूम नहीं हुई है कि देवदत्त रात में भोजन करता है।

मीमांसग दो प्रकार की अर्थापत्ति मानते हैं:

1) **दृष्टार्थापत्ति:** इसमें किसी दृष्टार्थ या देखी गई घटना की व्याख्या हेतु अर्थ की कल्पना की जाती है।

19

वेदांत संप्रदाय

प्र. 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नाऽसहिपरः'। इस कथन के आलोक में अद्वैत वेदान्त में निरूपित ईश्वर, जीव एवं साक्षी की सत्तात्मक स्थिति की व्याख्या कीजिये।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तरः शंकराचार्य अपने ग्रन्थों में बार-बार यह उद्घोष करतें हैं कि "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवों ब्रह्मैव नापर" अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शंकर सत्कार्यवाद के एक रूप ब्रह्म-विवर्तवाद में विश्वास करते हैं। इसके अनुसार जगत ब्रह्म का विवर्त है। वास्तविक परिणाम नहीं है। मायायुक्त ब्रह्म इस जगत का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों है। माया के कारण ही यह ब्रह्म प्रपश्चात्मक जगत के रूप में आभासित होता है। पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म की वास्तविक सत्ता है, जगत मिथ्या है।

जगत के मिथ्यात्व को स्पष्ट करने के लिए शंकर दर्शन के अनेक कथन दिखाई देते हैं।

(1) "सद्सहिलक्षणत्वं मध्यात्वम"
अर्थात जो सत् और असत् दोनों से भिन्न है, वह मिथ्या है।

(2) "ज्ञान निवर्त्यत्व मिथ्यात्वम्"
अर्थात जो ज्ञान से बाधित होता है, वह मिथ्या है।

(3) "त्रिकाला बाध्यत्वं लक्षण सत्"
अर्थात जिसका तीनों कालों में बाध्य नहीं हो वह सत् है। परामार्थिक दृष्टि से जगत का बाध्य हो जाता है।

(4) "सद् विविकत्व मिथ्यात्वम्"
अर्थात जो सत् से भिन्न है, वह मिथ्या है। जगत के मिथ्यात्व के समर्थन में निम्न तर्क हैं-

(i) जगत के पदार्थों में सदा विकार अर्थात परिवर्तन आता रहता है, जो विकारयुक्त होता है। वह पदार्थ अपने स्वरूप को खो देता है। परिवर्तनशील जगत को सत् न मानकर मिथ्या मानना पड़ता है।

(ii) जाग्रत-अनुभव और स्वप्न ज्ञान की वस्तुएं दृश्य हैं, जो दृश्य है वह मिथ्या है। जैसे स्वप्न की वस्तुएं। जो दृश्य हैं, उसका मूल कारण अविधा है।

(iii) शंकर सामान्य दृष्ट अनुमान के आधार पर भी जगत के मिथ्यात्व का सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं।

(iv) अक्षर ब्रह्म विद्या से जाना जाता है, इसलिए यह सत्य है। क्षर जगत अपराविधा का विषय है। इसलिए यह मिथ्या है।

(v) शंकर विवर्तवाद के आधार पर शंकर के मिथ्यात्व को स्थापित करते हैं। शंकर के अनुसार जगत ब्रह्म का वास्तविक परिणाम नहीं है, बल्कि इसका विवर्त मात्र है। यह जगत वस्तुतः न तो उत्पन्न होता है और न ही विकसित होता है।

(vi) जगत् सत् और असत् से विलक्षण मिथ्या है। जगत् सत् नहीं है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान से इसका वाद हो जाता है। जगत् असत् भी नहीं है, क्योंकि उसका अनुभव किया जाता है। इस प्रकार सत् असत् के आधार पर देखने से जगत का मिथ्यात्व स्पष्ट होता है।

प्र. अद्वैतवाद के अनुसार जीव एवं जीव-साक्षी के स्वरूप एवं संबंध की विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2020)

प्रश्न की मांगः जीव व जीव-साक्षी के मध्य संबंधों व स्वरूप को अद्वैतवाद के अनुसार उल्लेख करना है।

उत्तरः आचार्य शंकर का स्पष्ट मत था कि ब्रह्म और जीव दोनों एक हीं हैं। जैसे समुद्र हो या सरिता हो या फिर सरोवर हो, सभी प्रकृति से एक हीं हैं क्योंकि सभी जल को हीं धारित करते हैं भले हीं जल धारण क्षमता जनित आकार में वे परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं। यही बात ब्रह्म और जीव के संदर्भ में भी है; अर्थात ब्रह्म और जीव (आत्मा) दोनों की प्रकृति एक सी है, ये तात्विक रूप से एक हीं हैं। क्या हम समुद्र के किनारे खड़ा होकर समुद्र के आकार का अनुमान कर सकते हैं? नहीं न!

- उसी तरह ब्रह्म का स्वरूप इतना विशाल है कि वह निराकार है, जीव के लिए वह ब्रह्म प्रकृति से एक होते हुए भी अथाह है। किन्तु वहीं एक बाल्टी में रखे जल का आकार तुरंत जान लेते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि उस जल का आकार भी बाल्टी का ही हो जाता है क्योंकि उस जल को बाल्टी ने बांध रखा है।उसी प्रकार सूक्ष्म, कारण और स्थूल शरीर निर्मित देह से जीव (आत्मा) भी जब बंध जाता है तो जीव का आकार भी वैसा हीं हो जाता है जो उस देह का होता है।

आत्मा और अनात्माः भगवान शंकर ने ब्रह्मसूत्र पर अपने भाष्य में सम्पूर्ण प्रपंच को दो भागों में पहले विभक्त किया, ये हैं-

द्रष्टा और दृश्य
द्रष्टा वह है जो सम्पूर्ण प्रतीतियों को अनुभव करता है
दृश्य वह है जो अनुभव का विषय है

- द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध सापेक्ष है। अंतिम द्रष्टा जो समस्त प्रतीतियों का चरम साक्षी है, जिसका नाम 'आत्मा' है तथा जो कुछ उसका विषय है वह सब 'अनात्मा' है। आत्मा नित्य, निर्विकार, असंग, कूटस्थ, अक्षय, अक्षत, निश्चल, एक और निर्विशेष है।

20

अरविंद

प्र. श्रीअरविन्द द्वारा प्रतिपादित वैयक्तिक विकास हेतु त्रिविध रूपान्तरण की प्रक्रिया में समग्र योग की भूमिका की व्याख्या एवं मूल्यांकन कीजिये। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: अरविन्द विश्व प्रक्रिया को द्विरूपात्मक प्रक्रिया मानते हैं:

(1) अवरोहण,

(2) आरोहण।

अवरोहण उच्चतर का निम्न स्तरों में अवतरण है, जिसके फलस्वरूप जगत की स्थिति उभरती है, जबकि आरोहण निम्न स्तरों का उच्च स्तरों में विकास है।

- अरविन्द दृष्टि को 'पूर्ण चेतना का अज्ञान में निमज्जन' 'परमसत् का अज्ञान में प्रविष्ट हो जाना' कहते हैं। पूर्ण चेतना तो सच्चिदानंद रूप है, परन्तु जब सच्चिदानंद अपने आपको विभिन्न निम्न स्तरों में निम्मजित करता है, तब सृष्टि होती है। यही सच्चिदानंद का अवतरण।
- यहां यह स्वभावत: प्रश्न उठता है कि पूर्ण चेतना विभिन्न स्तरों पर क्यों उभरती है, अज्ञान के क्षेत्र में क्यों प्रविष्ट करती है, वह पूर्ण ज्ञान में रहकर सृष्टि क्यों नहीं करती है?
- अरविन्द के अनुसार, सच्चिदानंद अपनी पूर्ण चेतना या पूर्ण ज्ञान की स्थिति में भी दृष्टि कर सकता है। परन्तु ऐसी दृष्टि उच्च स्तर की दृष्टि होगी, जिसे केवल ज्ञानी तथा दृष्टा ही देख सकते हैं, परन्तु अभी हम जिस जगत की विवेचना कर रहे हैं, जिसमें हम सामान्य जीव रह रहे हैं, वह प्रकाश, अंधकार, सत्य-असत्य का मिश्रित रूप है।
- यह निम्नतर जगत है। यह अज्ञान के क्षेत्र में उजागर दृष्टि है। अत: यह सृष्टि अज्ञान के क्षेत्र में ही है, परन्तु अज्ञान से उत्पन्न यह दृष्टि हमें ज्ञान की ओर जाने की प्रेरणा देती है। हमें यह अवसर मिलता है कि हम अज्ञान तथा अपूर्णता का अतिक्रमण कर ज्ञान तथा पूर्णता को प्राप्त कर लें। यही उत्थान या आरोहण है।
- अत: मूल चेतना का अवरोहण और आरोहण दोनों सार्थक हैं। अरविन्द की यह अवरोहण प्रक्रिया कुछ सन्दर्भों में अद्वैत वेदान्त के दृष्टिवाह से साम्य रखता है। अद्वैत वेदान्त में भी सृष्टि कारण अज्ञान या अविधा को माना गया है। अविधा के कारण ही हम जगत् को सत्य मान लेते हैं, एजबकि वास्तव में जगत मिथ्या है। परन्तु यहां अरविन्द जगत् को मिथ्या न मानकर इसे सत् रूप में ही स्वीकार करते हैं।
- अरविन्द अजान के क्षेत्र में बल के अवतरण की सम्पर्क व्याख्या हेतु 'माया' और 'लीला' की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। वेदान्त के समान अरविन्द भी यह मानते हैं कि सृष्टि आनंद की अभिव्यक्ति है। आनंद का खेल है, आनन्द सृष्टि का रहस्य है, आनन्द ही दृष्टि का उद्भव है और दृष्टि की समाप्ति का रूप भी आनन्द है ।
- अरविन्द यहां यह कहते हैं कि आनन्द में ही हम अस्तित्ववान रहते हैं और आनन्द में ही हमारी परिणति है। हम जगत रूपी जिस सृष्टि के अंग हैं, वह प्रत्येक क्षण प्रवाहशील है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई क्रियात्मक शक्ति है, जो निरंतर नये-नये रूपों में अभिव्यक्त हो रही है। इस सृजनात्मक शक्ति से संबंधित प्रश्नों यथा-प्रवाह का कारण क्या है? इसका प्रयोजन क्या है? इत्यादि संशयों का निराकरण हम केवल यही कहकर कर सकते हैं कि ये सभी क्रियाएं आनन्दपूर्ण क्रियाएं हैं।
- सृष्टि का हर ताल, हर लय प्रत्येक गति आनंद की ही अभिव्यक्ति है। यदि हम इस मूल सत् को समझ लें, अनुभूत कर लें तो हम भी इस आनंद के अंश बन सकते हैं।
- इस अर्थ में जगत प्रक्रिया सच्चिदानंद का ही अंग है तथा इस प्रक्रिया में निहित यह व्यापक आनंद ही 'लीला' है। इसी कारण अरविन्द यह कहते हैं कि "सृष्टि उसी का खेल है, वही खेल है, वही खिलाड़ी है और वही कीड़ा स्थल है।" ये सारी अभिव्यक्तियां इसके आनंद रूप की ही अभिव्यक्तियां है।
- अरविन्द के अनुसार सृष्टि किसी जादूगर के जादू का परिणाम नहीं है, बल्कि सृष्टि के पीछे एक ऋतु है, एक नियम है। इसी नियम को वे 'माया' की संज्ञा देते हैं।

प्र. श्री ऑरोबिन्दो के अनुसार 'चौत सत्ता का जागरण तथा सत्ता के अन्य भागों पर उसकी क्रमिक प्रधानता मनुष्य के चेतन क्रम-विकास में पहला कदम है'। व्याख्या तथा परीक्षण कीजिए। *(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)*

उत्तर: अरविन्द के दर्शन में सत्ता के आठ स्तर हैं- सत्, चित् आनंद, अतिमानस, मानस, आत्मा, जीव (प्राण), जड़-जगत। सत्ता के इन स्तरों के क्रम में यह विश्व प्रक्रियाएं चलती रहती हैं।

- अरिवन्द के अनुसार, कोई तत्व उच्चतर रूपों में विकसित इसी कारण से हो सकते हैं कि उच्चतर रूपों का इनमें अवतरण होता है। यदि ये उच्चतर रूप सूक्ष्म ढंग से उन तत्वों में विद्यमान न रहें तो फिर उनसे उच्चतर रूपों का विकास नहीं हो सकता है।

द्वितीय प्रश्न-पत्र

सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन

1 सामाजिक एवं राजनैतिक आदर्श

प्र. आर. नोजिक द्वारा प्रतिपादित न्याय के वितरणात्मक सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: नोजिक का न्याय सिद्धांत 'योग्यतावादी न्याय सिद्धांत' कहलाता है। नोजिक कल्याणकारी राज्य के आदर्शों में विश्वास नहीं रखता और राज्य के हस्तक्षेप को संशय की दृष्टि से देखते हैं।

- नोजिक न्याय के ऐतिहासिक सिद्धांत का समर्थन करते हुए कहते है कि यदि अतीत में कोई गलत संपत्ति हस्तांतरण हुआ है तभी उसे बदला जाये। सही ढंग से हुए संपत्ति हस्तांतरण को राज्य द्वारा छेड़ना गलत होगा।
- वे स्पष्ट कहते हैं कि लोगों की अतीत की परिस्थितियों एव कार्यों के आधार पर वर्तमान स्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती है। समाज में उत्पादन के स्तर पर जो असमानताएं पायी जाती हैं, इसे वितरण के स्तर पर बदलना विनाशकारी होगा। इस प्रकार नोजिक राज्य के समस्तकल्याणकारी कार्यक्रम को अवैध बताते हैं। क्योंकि राज्य द्वारा व्यक्ति के संपदा के अधिकारों में हस्तक्षेप का अर्थ व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन होगा।
- नोजिक के अनुसार, कोई संपत्ति का अधिग्रहण तभी गलत होगा जब वह दूसरों की स्थिति पहले से खराब कर दें। उदाहरणार्थ-नोजिक का कहना है कि कोई यदि प्राणरक्षक दवा बनाकर महंगे दाम पर बेंचे तो यह उचित है, किन्तु दूसरों को वैसी दवा न बनाने दे, यह अनुचित होगा।
- इस प्रकार नोजिक न्याय की स्थापना हेतु निम्न बातों को रखते हैं-
  - (i) न तो राज्यविहिन स्थिति अच्छी है और न ही एक ऐसा राज्य अच्छा है जो संपत्ति का पुनर्वितरण करे।
  - (ii) राज्य को रात्रि प्रहरी के रूप में एवं न्यूनतम राज्य के रूप में होना चाहिए।
  - (iii) नोजिक के अनुसार दरिद्रहीन या बंचित लोग अपनी मदद स्वयं करें अन्यथा उन्हें अमीरों की दया पर खैराती व्यवस्था पर निर्भर होना पड़ेगा।
  - (iv) योग्यतावादी के समर्थन के क्रम में नाजिक का कहना है कि जिसके पास योग्यता होगी, वह वस्तु एवं सुविधाओं को पायेगा।
- स्पष्ट है कि कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को पूरी तरह नकारते हुए नोजिक खुली बाजार व्यवस्था के प्रतिस्पर्धात्मक समाज को न्यायपूर्ण समाज के रूप में प्रस्तुत करते हुए दिखाई देते हैं।

प्र. रूसो किस प्रकार प्राकृतिक एवं कृत्रिम असमानता में भेद करते हैं? व्याख्या कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: रूसी ने दो प्रकार की असमानताओं के अस्तित्व का उल्लेख किया है- प्राकृतिक और कृत्रिम।

- प्राकृतिक का तात्पर्य किसी की स्वास्थ्य स्थितियों, आयु या शारीरिक विशेषताओं से उत्पन्न असमानताओं से है। दूसरी और कृत्रिम असमानता वह है जो मनुष्य द्वारा स्थापित की जाती है। इन दो साामजिक असमानताओं में से प्राकृतिक असमानताएं अनुवांशिक है और इन्हें रोका नहीं जा सकता जबकि कृत्रिम असमानताएं अप्राकृतिक है और इन्हें रोका जा सकता है।
- असमानता के इर्द-गिर्द अपने विचारों को सामने रखने के लिए रूसो ने एक विचार प्रयोग, प्रकृति की स्थिति का उपयोग किया। नतीजन, उनके द्वारा प्रतिपादित विचार ऐतिहासिक रूप से सटीक नहीं है।
- प्रयोग एक सैद्धांतिक कल्पना है जिसका उद्देश्य आधुनिक मनुष्य की उत्पत्ति को समझना है, जैसा की वह अभी है।
- रूसो के अनुसार एक प्राकृतिक मनुष्य है जो अनिवार्य रूप से मजबूत है और अपने आस-पास के जानवरों की तुलना में अधिक व्यवस्थित है। यह नैतिक ज्ञान से वंचित है और इस बात से अंजान है कि क्या अच्छा है क्या बुरा है।
- वह अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए जीता है, अर्थात भोजन, संभोग और आराम-जिसे वह आसानी से संतुष्ट कर सकता है। वह सीधा है और उसके पास जो कुछ भी है उससे खुश है, जबकि सभ्य व्यक्ति स्वार्थ से भरा होता है। प्राथमिक मनुष्य की विशेषता दया और सहानुभूति है।

प्र. क्या अमर्त्य सेन की न्याय की अवधारणा रॉल्स के न्याय के सिद्धान्त का एक परिष्कृत रूप है? विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: जॉन रॉल्स के अनुसार न्याय सिद्धांत का उद्देश्य प्रक्रिया या नियमों की खोज होनी चाहिए। यदि प्रक्रिया या नियम निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण हैं तो परिणाम भी न्यायपूर्ण होगा। अत: रॉल्स ने निष्पक्षता पर आधारित प्रक्रिया या नियमों की खोज को अपने न्याय सिद्धांत का केन्द्रबिन्दु माना है।

2

प्रभुसत्ता

प्र. क्या ऑस्टिन का संप्रभुता का सिद्धान्त प्रजातंत्र के साथ संगत है? विवेचना कीजिए। *(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)*

उत्तर: ऑस्टिन ने अपने संप्रभुता संबंधी विचारों का प्रतिपादन अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स ऑन जूरिसप्रूडेंस' में किया है।

- ऑस्टिन सम्प्रभुता को कानून का स्रोत मानते हैं। वे संप्रभुता को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि-"यदि कोई निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति, जो ऐसे ही किसी अन्य श्रेष्ठ व्यक्ति की आज्ञा पालन करने का आदि नहीं है, समाज के बहुत बड़े भाग से अपनी आज्ञा का पालन सहज रूप से करा लेता है तो वह निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति प्रभुसत्ताधारी है और वह समाज, राजनीतिज्ञ व स्वतंत्र समाज है।
- कानून एक श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा निम्न व्यक्ति को दिया जाने वाला आदेश है। समाज के सभी अन्य सदस्यों की स्थिति पराधीनता अथवा पराश्रितता की है। प्रत्येक कानून का प्रत्यक्ष अथवा निर्माता प्रभुसत्ताधारी है।"

दी गई परिभाषा से निम्न निष्कर्ष निकालता है।

1. प्रत्येक राज्य में ऐसा निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्य होता है। जिसकी आज्ञा समाज के बहुसंख्यक नागरिक स्वभावत: मानते हैं।
2. यह उच्चतर मनुष्य जो कुछ भी आदेश देता है वही कानून होता है और उसके आदेशों के बिना कोई कानून नहीं बन सकता।
3. इस उच्चतर मनुष्य की शक्ति जिसे संप्रभुता कहते हैं, अविभाज्य है। ऑस्टिन का कहना है कि प्रभुसत्ता को विभिन्न समुदायों में विभाजित नहीं किया जा सकता।
4. यह संप्रभु परमपूर्ण है और इस पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता।

प्र. उदयन किस प्रकार कार्यात्, आयोजनात्, धृत्यादे: और श्रुते: के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं? विवेचन कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2019)

उत्तर: नैयायिक उदयनाचार्य ने अपने ग्रंथ 'न्याय-कुसुमाग्जलि' में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के उपरोक्त श्लोक प्रस्तुत किये हैं-

(i) कार्यात्- जग्त्, एक कार्य है और कारण सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक कार्य की भौति इस कार्य के लिए भी कारण होना चाहिए। जगत का उपादानकारण परमाणु है। प्रश्न है निमित्त कारण कौन है? ईश्वर ही यह निमित्त कारण है।

(ii) आयोजनात- परमाणु जगत के उपादान कारण हैं किन्तु जड़, तथा निष्क्रिय होने के कारण वे खुद परस्पर व्यवस्थित नहीं हो सकते। प्रश्न है कि जगत में विद्यमान व्यवस्था परमाणुओं के माध्यम से कौन स्थापित करता है? यह व्यवस्थापक ईश्वर ही है।

(iii) धृत्यादे:- जगत तभी बना रह सकता है जब उसे धारण करने वाली कोई सत्ता विद्यमान हो। प्रश्न है कि जगत को कौन धारण तथा विनष्ट करता है? यह ईश्वर ही है।

(iv) पदात्- भाषा जिन पदों के माध्यम से कार्य करती है, वे निश्चित अर्थों से शुक्ल होते हैं। प्रश्न है कि पदों में अर्थ की यह क्षमता कहां से आती है? नैयायिकों के अनुसार ईश्वर ही पदों में यह क्षमता भरता है।

(v) प्रत्ययत:- प्रश्न है कि वेदों के रचनाकार कौन है? चूंकि वेद शाश्वत ज्ञान व सत्य के प्रतिपादक हैं, इसलिए उनका रचनाकार वही हो सकता है जो सर्वज्ञ तथा नित्य हो। यह रचनाकार ईश्वर ही है।

(vi) श्रुते:- वेद प्रामाणिक रचनाएं हैं, अत: उनमें वर्णित ज्ञान शाब्दी प्रमा है। वेदों में ईश्वर के अस्तित्व का उल्लेख किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि ईश्वर की सत्ता है।

उदयनाचार्य के ईश्वर के सिद्धि के तर्कों पर अनेक आक्षेप लगाये गये, फिर भी न्याय दर्शन का योगदान यह अवश्य है कि उसने ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में लगभग उन सभी तर्कों को प्रस्तुत किया है, जिनकी चर्चा पश्चिमी दर्शन में की जाती है।

प्र. चर्चा कीजिए कि ऑस्टिन की संप्रभुता की संकल्पना कौटिल्य की संप्रभुता की संकल्पना के साथ कहां तक मेल खाती है। *(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2019)*

उत्तर: 16वीं से 19वीं सदी तक के विचारकों की मूल-समस्या राज्य को धर्म, परम्पराओं और सामन्तों के प्रभाव से मुक्त करना था। इस संदर्भ में जो सिद्धान्त दिये गये उनमें राज्य की सत्ता को सर्वोच्च माना गया। इस तरह के सिद्धान्तों को एकलवादी सिद्धान्त कहा गया। इनमें ऑस्टिन का सिद्धान्त श्रेष्ठतम माना जाता है।

ऑस्टिन और कौटिल्य के संप्रभुता के सिद्धान्त में निम्न समानता है-

(i) दोनों एकलवादी हैं अर्थात् कौटिल्य ने राज्य को संप्रभु माना, ऑस्टिन भी राज्य को तथा सम्पूर्ण शक्ति संप्रभु को दी है।
(ii) दोनों लौकिक संप्रभुता में विश्वास करते हैं न कि अलौकिक सत्ता में।
(iii) पूर्णसत्तावाद में विश्वास अर्थात् राज्य किसी अन्य संस्था से नियंत्रित नहीं है।

3

व्यक्ति एवं राज्य

प्र. जातिगत भेदभाव के निर्मूलन पर गांधी के विचारों का समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: गांधी जी परंपरा से चली आ रही वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। वर्ण व्यवस्था से उनका आशय श्रम के विभाजन से था। इसलिए वे समाज में व्यवस्था को बनाये रखने के लिए चर्तुवर्ण व्यवस्था को आवश्यक मानते थे। वर्ण व्यवस्था को वे कर्म के अनुसार परिवर्तनीय मानते थे। क्योंकि उनका मानना था यदि पुत्र पिता के व्यवसाय को अपनायेगा तो प्रतियोगिता एवं विकास में कमी आयेगी उनका स्पष्ट मानना था कि जब वर्ण व्यवस्था अस्तित्व में आयी थी तब ऊंच नीच का विचार नहीं था। इस विश्व में न कोई ऊंचा है न कोई नीचा।

- यह मायने नहीं रखता कि प्राचीन समय में समाज में क्या था। ऊंच-नीच का विचार था या नहीं परन्तु आज कोई भी समाज ऊंच-नीच के विचार को स्वीकार नहीं करेगा। मानवीय स्तर पर सभी मनुष्य समान हैं। संपत्ति, बुद्धि आदि के स्तर पर असमानता हो सकती है। वर्ण व्यवस्था को श्रम के विभाजन मानने के कारण ही गांधी जी यह मानते थे कि हिन्दू धर्म अभी तक अक्षुण रूप से बचा हुआ है।
- गांधी जी सामाजिक समूहों का चार भागों में बटबारा स्वभाविक और आवश्यक मानते थे। परन्तु इसको आधार बनाकर जाति के रूप में अंतहिन विभाजन की प्रक्रिया को सबसे बड़ी सामाजिक बुराई मानते थे। कारण समाज में ऊंच-नीच की भावना प्रवेश करती है। जिसका चरम रूप छुआ -छूत की भावना है। अपने सामाजिक सुधार के प्रयासों में सबसे पहले वे अस्पृश्यता पर प्रहार करते थे। उनका मानना था कि एक बार यदि अस्पृश्यता समाप्त हो जायेगी तो जाति व्यवस्था अपने आप समाप्त हो जायेगी।
- धर्म के इस विकृत रूप का गांधी विरोध करते थे। जहां धर्म का मतलब खानपान और ऊंच-नीच का भेद है। व्यक्ति की उच्चता और नीचता की एकमात्र कसौटी वे चरित्र को मानते थे। ऐसे धर्म ग्रन्थों को वे अस्वीकार करने को तत्पर थे जो व्यक्ति को उसके जन्म के कारण हिन अथवा अछूत कहते थे। गांधी जी के अनुसार यह भगवान को सत्य मानने से इंकार करना है।
- गांधी जी एक राष्ट्रवादी नेता थे। अंग्रेज विचारकों द्वारा इस मिथ्या धारणा का प्रचलन कि भारत कभी एक राष्ट्र नहीं रहा यहां के लोग सदैव आपस में बंटे रहे। समाज विघटन का शिकार रहा।
- इस चुनौति और आरोप के विरोध में गांधी ने यह दृढ़ निश्च किया कि भारत को वे एक संगठित राष्ट्र का रूप देंगे। भारत के सभी लोगों को एक साथ खड़ा करेंगे- चाहे अछूत हो, हिन्दू हो, मुस्लिम हो। गांधी पहले राष्ट्रवादी नेता थे जिन्होंनें सबके लिए वास्तविक स्वराज्य की बात की वे यह नहीं मानते थे कि अस्प्रश्यता से मुक्ति से पहले गुलामी से मुक्ति हो सकती है।
- उनका विश्वास था कि जिस दिन इस बुराई के संदर्भ में भारत अपनी चितवृत्ति बदल देगा उस दिन से संसार में कोई भी जाति नहीं है जो उसके स्वराज के अधिकार को स्वीकार न कर सके। इसलिए वे तथाकथित अंत्यन अछूत या पंचमजाति को समस्त अधिकार देने के हिमायती थे।

निष्कर्ष

गांधी का मुख्य उद्देश्य भारत की आजादी था इसलिए वे समाज के समस्त समूहों को जोड़कर राष्ट्रीय आंदोलन को मजबूत और संगठित करना चाहते थे। इस प्रक्रिया में सबसे पहली जरूरत जातिगत भेदभाव की समाप्ति मानते थे।

प्र. क्या अप्रतिबन्धित अधिकारों की अवधारणा अनिवार्यतः अव्यवस्था में परिणित होती है? समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति-राज्य संबंध की विवेचना के क्रम में तीन नैतिक प्रश्न उभरते हैं-

1. हमें क्या प्राप्त होना चाहिए → अधिकार
2. हमें क्या करना चाहिए → कर्तव्य का पालन
3. कार्य संपादन की जिम्मेदारी किसकी होनी चाहिए और कैसे निर्धारित होनी चाहिए → उत्तरदायित्व का प्रश्न

- व्यक्ति की छिपी हुई संभावनाओं को साकारित करने हेतु, संभावनाओं को साकारित करने हेतु, सम्मानपूर्वक जीवन यापन करने के लिए, समाज को सुव्यवस्थित रूप से संचालन हेतु नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्थान हेतु अधिकारों का होना आवश्यक है।
- अधिकार कुछ कार्यों को करने की स्वतंत्रता का नाम है। लॉस्की के अनुसार अधिकार सामाजिक जीवन की वे स्थितियां हैं जिसके बिना सामान्य रूप से कोई व्यक्ति अपने जीवन का सर्वोच्च विकास नहीं कर सकता।

4

शासन के प्रकार

प्र. व्यक्तिवाद तथा सार्वभौमिक मताधिकार के युग में राज-निकाय (बॉडी-पॉलिटिक) में जाति की क्या भूमिका है? विवेचना कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: संस्कृति और सभ्यता के निर्माण का पहला साहित्यिक साक्ष्य वैदिक साहित्य है। इस वैदिक साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के पुरुष सुक्त में समाज के वर्गीय विभाजन को मिथकीय रूप में या पराभौतिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिसमें यह माना गया है कि आदि पुरुष ने सामाजिक व्यवस्था के लिए अपने आप को नष्ट कर दिया और अपने शरीर के विभिन्न भागों से विभिन्न सामाजिक वर्गों का सृजन किया।

- आम धारणा में वर्ण से आशय हिन्दू समाज के चार वर्गों में विभाजन से लिया जाता है। वर्ण का शाब्दिक अर्थ रंग है इसका प्रयोग मुख्यत: आर्यो और अनार्यो के बीच भेद करने के लिए किया गया था। परन्तु कालान्तर में यह शब्द सामाजिक व्यवस्था के वर्गीय विभाजन के लिए रूढ़ हो गया और सतपथ ब्राह्मण में आकर चार वर्गों को चार वर्णों के रूप में जाना जाने लगा।
- आदिपुरुष के शरीर से जिस तरह विभिन्न सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति हुई इसी तरह कालांतर में उनकी सामाजिक स्थिति के क्रम का निर्धारण हुआ। आरंभिक अवस्था में यह विभाजन व्यवसाय और कर्म पर आधारित था अर्थात एक व्यक्ति अपना व्यवसाय चुनने के लिए स्वतंत्र था।
- उसके व्यवसाय के आधार पर उसकी सामाजिक स्थिति या महत्व का निर्धारण नहीं होता था। परन्तु परवर्ती दौर में व्यवसायों का श्रेणीक्रम निर्धारित होने लगा। यही प्रक्रिया जातियों की उत्पत्ति का आधार बनती है। व्यवसायिक विविधता के कारण अनेक जातियों एवं उपजातियों की उत्पत्ति हुई।
- जाति के साथ विभेद अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। जाति एक पृथक समुदाय है जिसके सदस्य अपनी जाति के भीतर वैवाहिक संबंधों एवं आनुवंशिक व्यवसाय या कतिपय कर्तव्य के जरिए आपस में बंधे रहते हैं तथा हम लोग जातियों से पृथकता एवं पहचान को बनाये रखने की निरंतर कोशिश करते हैं। इसके अतिरिक्त जाति व्यवस्था की अवधारणा सामाजिक ऊंच-नीच से जुड़ी हुई है।
- यह ऊंच-नीच 'शुद्धता' 'अशुद्धता' की धारणा से अर्थात् ऊंच-नीच की भावना जाति व्यवस्था का केन्द्रीय तत्व है। यही केन्द्रीय तत्व विभेद का मूल कारण है।
- असमानता का चरम रूप स्पृश्यता की अमानवीयता में दिखाई पड़ता है इसके अन्तर्गत समाज के एक बड़े समूह को हाशिये पर रख दिया गया और उसे अत्यंज कहा गया। उसकी परछाई उसका स्पर्श अपवित्रकारी माना जाने लगा।
- मानव जीवन के मूलभूत अधिकारों से इसे वंचित कर दिया गया। ये लोग मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। इसके साथ शिक्षा के अधिकार से पूरी तरह वंचित थे।
- भारतीय राजनीति में जाति सबसे महत्वपूर्ण कारक बन गयी है। जाति चेतना एवं जातिगत संगठनों के उदय ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को बदल दिया है।
- सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के लागू होने के बाद सभी वर्गों की राजनीति में भागीदारी बढ़ी है। तथा कुछ वर्ग मजबूत बनकर उभरे हैं।
- भारत की चुनावी राजनीति में गति के दो पहलू हैं, पहला जाति के आधार पर प्रतिनिधि चुने जाते हैं, या जाति के आधार पर राजनीतिक दल टिकटों का बंटवारा करते हैं, तथा दूसरा पहलू यह है कि राजनीतिक दलों का आधार, जातियों का समर्थन होता है।

निष्कर्ष

प्रथम पहलू यह दर्शाता है कि जातियों को विधायी निकायों में शामिल किया जा रहा है जबकि दूसरा यह है कि चुनावी सफलता में जातियों की भूमिका अधिक बढ़ गयी है।

प्र. यह सिद्ध करने के लिए कि सम्प्रभुता परमतात्त्विक, निरंतर तथा अविभाजित होनी चाहिए, बोडिन कौन-सी युक्तियां प्रस्तुत करते हैं? क्या बोडिन की सम्प्रभुता की अवधारणा समानता, न्याय तथा स्वतन्त्रता के सामाजिक तथा राजनैतिक आदर्शों के साथ सुसंगत है? समालोचनात्मक विवेचना कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: संप्रभुता राज्य का निर्माण करने वाले तत्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 21 यही वह तत्व है जो राज्य को समाज के अन्य संगठनों (परिवार, विरादरी, जाति आदि) से अलग करता है।

- संप्रभुता के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'sovereignty' लैटिन भाषा के 'superanus' से बना है और इसका अर्थ होता है - श्रेष्ठ या सर्वोच्च शक्ति।

5

राजनैतिक विचारधाराएं

प्र. "सम्पूर्ण स्वतन्त्रता असमानता को जन्म दे सकती है, जबकि व्यवस्था तथा प्रतिबन्ध से अनिवार्यतः स्वतन्त्रता के ह्रास का फलन होता है।" समालोचनात्मक विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए मानव प्रारंभ से ही संघर्ष करता रहा है, परन्तु आधुनिक प्रसंग में स्वतंत्रता शब्द का जो प्रयोग किया जा रहा है उसे फ्रांसीसी क्रांति की देन कहा जा सकता है। इस क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का संदेश प्रेषित, किया। यह स्वतंत्रता उदारवादी चिंतन का केन्द्रीय तत्व और मूलभूत सामाजिक मान्यता है।

स्वतंत्रता के संबंध में हो प्रमुख दृष्टिकोण हैं - (i) नकारात्मक स्वतंत्रता (ii) सकारात्मक स्वतंत्रता।

(i) नकारात्मक स्वतंत्रता: इसके प्रमुख विचारक जॉन लॉक, डेविड हयूम, ऐंडम स्मिथ, टॉमस पेन, हरबर्ट टपेंबर आदि है। ये विचारक स्वतंत्रता का अर्थ 'लिबर्टी' के मूल शब्द 'लिबर' से ग्रहण करते हैं। लिबर का अर्थ है- बेबनों का न होना अर्थात् बंधनों का अभाव। यहां बंधनों के अभाव का आशय है - स्वतंत्रता किससे है न कि स्वतंत्रता किसके लिए है।

हॉब्स के अनुसार- स्वतंत्रता कानून का मौन है। बर्लिन इसे 'जोर - जबरदस्ती का अभाव मानते हैं। यहां बाधाएं सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक सभी प्रकार की मानी गई हैं।

- इन विचारकों का विश्वास था कि अगर व्यक्ति को काम करने की पूरी छूट हो तो वह निजी प्रयास से जीवन में आने वाली कठिनाइयों का सामना कर सकता है। मिल के अनुसार मनुष्य को स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसमें राज्य किसी तरह की बाधा नहीं डालें। इन विचारकों का तर्क है कि राज्य का कोई कानून जो प्राकृतिक दशा में मिलने वाले अधिकारों जैसे स्वतंत्रता पर अंकुश लगाता है, न्यायसंगत व मान्य नही हो सकता है।

समालोचना

- स्वतंत्रता केवल बंधनों का अभाव नहीं हैं। बंधनों का अभाव स्वेच्छा 'चारिता की ओर ले जा सकता है।
- मिल द्वारा मनुष्य के व्यक्तिपरक एवं हामाजपरक कार्यों के बीच खीची गई रेखा अव्यवहारिक है।
- नकारात्मक स्वतंत्रता मानव की परिकल्पना एकाकी व्यक्ति के रुप में करती है और उसे सामाजिक संबंधों से जुड़ा नहीं मानती है।

सकारात्मक स्वतंत्रता: इसके प्रमुख विचारक ग्रीन, बोसांके, लास्की, मैकफर्सन, रॉल्स आदि हैं। व्यक्तिवाद पर आधारित पूंजीवाद की बुराइयों और समाजवाद के दबाब में इस सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा का विकास हुआ है। यह अवधारणा स्वतंत्रता को समाज, सामाजिक - आर्थिक परिस्थितियों, अधिकार, समानता और न्याय के साथ जोड़ती है। इसमें स्वतंत्रता के नकारात्मक स्वरूप न्याय की खामियों से उबरने का प्रयास दिखता है।

- सकारात्मक स्वतंत्रता प्रतिबंधों के पूर्ण अभाव के बजाएं समुचित प्रतिबंध की बात करता है। साथ ही मनुष्यों के संपूर्ण विकास के अवसर उपलब्ध कराने पर जोर देता है।

समालोचना

- सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा में स्वतंत्रता के स्रोत की चर्चा पर ध्यान रखा जाता है। जबकि नकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा में स्वतंत्रता के क्षेत्र को केवल महत्त्व दिया जाता है।
- सकारात्मक स्वतंत्रता में व्यक्ति की क्षमताओं को विकसित करने पर जोर है और इसमें आने वाली बाधाओं को हटाने पर जोर है।
- कई बार इसके निर्धारण का दायित्व राज्य पर दे दिया जाता है पर ऐसी स्थिति में यह आरोप लगाया जा सकता है कि इससे तानाशाही और अधिनायकवाद कायम हो सकता है।

प्र. मार्क्स के दर्शन के सन्दर्भ में साम्यता (इक्विटि) तथा समानता की अवधारणाओं के बीच अन्तर की व्याख्या कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: मार्क्सवाद समाजावाद का वह रूप है जिसे कार्ल मार्क्स ने प्रस्तुत किया था। समाजवाद के मार्क्सवादी रूप को वैज्ञानिक समाजवाद बाद भी कहा जाता है। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित समाजवाद एक काल्पनिक विचारधारा न होकर विधिवत् रूप से प्रतिपादित एक व्यवहारिक दर्शन है।

- इसमें उन परिस्थितियों विस्तृत वर्णन है जिसके माध्यम से निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। यह मार्क्सवाद एक ऐसी वैकल्पिक विचारधारा है जो मानव समाज को इतिहास व भौतिकवाद के साध्यम से समझने का प्रयत्न करता है और इसी आधार पर नये समाज का निर्माण करना चाहता है। मार्क्स समाज को रुपान्तरित कर एक नये मानवोचित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के पक्षधर थे।

6

मानववाद

प्र. मानववाद के उदय में प्रबोधन (एन्लाइटनमेन्ट) आन्दोलन की भूमिका की विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: मानववाद वर्तमान युग का सर्वाधिक प्रचलित, प्रासंगिक एवं जीवंत दर्शन है। इसमें मानव और उसकी समस्याओं के विवेचन को केन्द्र में रखा जाता है। यह मनुष्य को ही समग्र मूल्यों का मापदण्ड स्वीकार करता है। यह मनुष्य के अस्तित्व उसकी स्वतंत्रता तथा उसके कल्याण का समर्थन करता है। इस प्रकार चिंतन की कोई भी प्रणाली या क्रिया जिसका संबंध मानव हित से हो मानववाद कहलाता है। इसे मानव धर्म भी कहते हैं।

- कार्लिस लेमाण्ट के अनुसार मानववाद विश्व बंधुत्व, अंतर्राष्ट्रीय मैत्री और मनुष्य के भ्रातृत्व का समर्थक है।
- मानववाद किसी सुनिश्चित विचार पद्धति की प्रस्तुति नहीं है, वरन् यह वस्तुत: एक दार्शनिक अभिवृत्ति है जिसे हम अनेक विचार पद्धतियों में प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से आध्यात्मिक व्यक्तिवाद, अर्थक्रियावाद, अस्तित्ववाद तथा मार्क्सवाद भी मूलत: मानववादी वृत्ति की विचारधाराएं है, क्योंकि इन सभी का केन्द्र बिन्दु मनुष्य ही है।
- यूनानी विचारक प्रोटोगोरस ने कहा था-"मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है" अज्ञेयवादी प्रोटोगोरस ईश्वर आदि अलैकिक शक्तियों को नकारते हैं।
- प्रोटोगोरस के इन विचारों में ही मानववाद के शुरुआती रूप को देखा जा सकता है। इसके बाद हम सुकरात को भी मानववादी विचारक मान सकते हैं। जिनका कथन है- "स्वयं को जानो।" इस कथन से ही मानव की सर्वोच्चता एवं श्रेष्ठता सिद्ध होती है।
- यूरोप में मध्य युग (500-1500 ई.) अंधकार युग था, जिसमें मानव की केन्द्रीय भूमिका नहीं थी, बल्कि पारलौकिकता का प्रभाव था। परन्तु पुनर्जागरण काल में पुन: मानववादी मूल्यों का विकास शुरू हुआ। वैचारिक एवं औद्योगिक क्रांतियों को जन्म देने वाले पुनर्जागरण आंदोलनों के बाद कोपरनिकस डार्विन, फ्रायड एवं मार्क्स के विचारों के फलस्वरुप भी मानववाद को मजबूती मिली।
- यहां पुन: मनुष्य की महत्ता और उसकी गरिमा को आदर दिया गया। तथा उसकी रचनात्मक को स्वीकार किया गया। उसमें संकल्प स्वातंत्र्य को स्वीकार किया गया। यहां मध्यकालीन धार्मिक संकीर्णता, धार्मिक कट्टरता के स्थान पर बौद्धिक स्वतंत्रता, उत्साह और सांसारिक वस्तुओं के प्रति प्रेम का उदय हुआ।
- रसेल एवं सार्त्र के चिंतन से मानववाद का क्षितिज और भी व्यापक हुआ। वर्तमान युग की विभिन्न विचारधाराओं में हम मानववादी स्वर की सशक्त अभिव्यक्ति देख सकते हैं। इनमें मुख्य हैं- प्रगतिवादी मानववाद, उपयोगितावादी, मानववाद, मार्क्सवादी मानवाद तथा अस्तित्ववादी मानववाद।

निष्कर्ष

वर्तमान समय में मानववाद और भी मजबूती के साथ विकसित हुआ है। इसे मजबूत आधार प्रदान करने वाले विचारकों में जॉन ड्यूबी, कार्लिस लेमाण्ट, मार्क्स, स्पेन्सर, मिल, रसेल सार्त्र, एम.एन. राय एवं जवाहर लाल नेहरू प्रमुख हैं।

प्र. क्या आप सहमत हैं कि आर्थिक विकास स्वयमेव मानव विकास तथा सामाजिक प्रगति में परिणित नहीं होता? अपने उत्तर के लिए तर्क तथा प्रमाण प्रस्तुत कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: विकास की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है कुछ व्यक्ति यह कहते हैं कि विकास का अर्थ संवृद्धि होता है तो कुछ अन्य विचारक से प्रगति या फिर आधुनिकीकरण के रूप में लेते हैं। वस्तुत: विकास में संवृद्धि एवं आधुनिकीकरण का तत्व समाहित होता है।

- विकास का शाब्दिक अर्थ है- वृद्धि, उन्नति या प्रचुरता। विकास एक निरंतर गतिशील प्रक्रिया है जो वहुपक्षीय है। प्रमुख विकास विचारक वीडनर के अनुसार, - "संवृद्धि की वह प्रक्रिया जिससे राष्ट्र निर्माण व सामाजिक आर्थिक प्रगति होती है को विकास की प्रक्रिया कहा जाता है।"
- विकास की संकल्पना में निम्नलिखित घटक सम्मिलित होने चाहिए- (i) सामाजिक न्याय (ii) लोगों के जीवन स्तर, स्वाथ्य, सफाई, पोषाहार, शिक्षा, वायु संभाविता आदि में सुधार, (iii) सामूहिक सुरक्षा, स्वाधीनता एवं राष्ट्रीय एकता (iv) विकास कार्यों में लोगों की सहभागिता एवं उनको लाभ (v) आत्मनिर्भता (vi) प्राकृतिक संतुलन (vii) सामाजिक- आर्थिक विषमताओं में कमी।
- प्रगति आदर्श का सूचक है और विकास वास्तविकता का दर्शन है। प्रगति एक नैतिक प्रत्यय है जबकि विकास एक वैज्ञानिक प्रत्यय है।
- वस्तुत: ये दोनों न तो पूर्णत: समान है और न ही परस्पर विरोधी हैं। जब विकास के साथ श्रेष्ठ और निकृष्ठ का मूल्य जोड़ लेते हैं तो फिर प्रगति की अवधारणा उभरती है। नैतिक अर्थ में प्रगति चरम नैतिक मूल्य का द्योतक है।

7

अपराध एवं दंड

प्र. क्या भ्रष्टाचार एक तंत्रगत विषय है अथवा एक नीतिशास्त्रीय विषय? अपनी समालोचनात्मक टिप्पणियां प्रस्तुत कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: भ्रष्टाचार मनुष्य के इस आचरण से संबंधित है जिसमें किसी समाज एवं राज्य द्वारा निर्धारित नियमों और कानूनों के विरुद्ध आचरण किया जाता है। इस रूप में यह सापेक्ष अवधारणा है। अर्थात आचरण से संबंधित कोई क्रियाकलाप किसी समय और समाज के लिए स्वीकार्य योग्य नहीं हो सकता है।

- भ्रष्टाचार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं बल्कि सामाजीकरण की प्रक्रियाओं से संबंधित वृत्ति है। यह बात अलग है कि मनुष्य कभी-कभी अपनी मूल प्रवृत्तियों से अलग उठकर आचरण करता है जो समाज के लिए हानिकारक होता है परन्तु इस प्रकार के आचरण को अनैतिकता की श्रेणी में रखा जाता है।
- इस प्रकार अनैतिक आचरण वैयक्तिक स्तर तक सीमित रहता है। भ्रष्टाचार सामूहिक चरित्र का होता है और सामाजीकरण एवं परिवेश का परिणाम होता है। भ्रष्ट आचरण करने वाला सार्वजनिक शक्ति का व्यक्तिगत काम के लिए उसका दुपर्योग करता है। किसी संस्था द्वारा निर्मित कानूनों एवं परंपराओं को उस संस्था में नियोजित व्यक्तियों द्वारा नियोजित किया जाता है।
- उल्लंघन की प्रक्रिया में यह आवश्यक नहीं है कि मौद्रिक लाभ ही हो मानसिक संतुष्टि भी कभी-कभी भ्रष्ट आचरण के लिए अभिप्रेरणा का कार्य करती है।
- भ्रष्ट आचरण के संदर्भ में सामाजिक बंधन और संबंध महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधुनिक संदर्भ में जबकि परिवार जाति, धर्म आदि से ऊपर उठने का आदर्श था परन्तु इसके विपरित व्यक्ति और अधिक समूह प्रधान होता गया। स्वतंत्र रूप से इसका कोई अस्तित्व न होने से वह अनिवार्यत: किसी न किसी समूह से जुड़ा रहता है, इसलिए सार्वजनिक पदों पर रहते हुए उसका संचालन वह निष्पक्ष रूप से नहीं कर पाता। वस्तुत: इसरूप में सार्वजनिक पद का दुरुपयोग कर अपने संबंधी या परिवार को लाभ पहुंचाना भ्रष्टाचार न होकर इसे पारिवारिक जिम्मेदारी के रूप में देखा जाता है।
- भ्रष्टाचार एक वैश्विक परिघटना है। इसका लगभग सभी समय और समाज में अस्तित्व मिलता है। मनुष्य के आचरण के संचालन में इसकी भूमिका का अस्तित्व तब से मिलता है जब से मनुष्य ने सोचना प्रारंभ किया।
- समाज एवं संस्कृति का अनिवार्य हिस्सा होने से इसका संबंध मिथकीय एवं काल्पनिक विश्व से भी रहा है। इतिहास में मिश्र, बेबोलोन समाज में न्यायाधीशों के घूस लेने के प्रमाण मिलते हैं। रोम में सार्वजनिक पदों के चुनाव में रिश्वत लेना आम बात थी। 15वीं सदी में फ्रांस में न्यायिक पदों के बेचे जाने के प्रमाण मिलते हैं। 19वीं सदी में ब्रिटेन में यह आचरण इतना अधिक व्यापक हो गया कि संवैधानिक स्वतंत्रता का सबसे बुरा परिणाम समझा जाने लगा।

निष्कर्ष

भारत के संदर्भ में इसकी चर्चा इससे उत्पन्न समस्या तथा निपटने के विस्तृत उपाय कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलते हैं। कौटिल्य ने राज्य के कर्मचारियों द्वारा राजस्व के एक बड़े भाग के गबन एवं चोरी को लेकर दुख प्रकट किया है। कौटिल्य ने 40 प्रकार के चोरी से संबंधित भ्रष्ट आचरण का उल्लेख किया है। अशोक के समय में भी भ्रष्टाचार नीचले स्तर पर प्रचलित था।

प्र. मृत्युदण्ड के पक्ष में कौन-सी नैतिक युक्तियां सम्भव हैं? विवेचना कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: यह एक प्रचलित अवधारणा है कि समय के साथ दंड विधान भी अधिक नरम होते जाते हैं और क्रूरतम प्रकृति की सजा क्रमश: चलन से बाहर हो जाती हैं। यह धारणा इस बुनियाद पर टिकी है कि मानव समाज निरंतर सभ्य होता चला जाता है। और एक सभ्य समाज में कोई ऐसा कानून शेष नहीं रहना चाहिए जो इस सभ्यता के अनुकूल न हो। मृत्युदण्ड की सजा को भी इसी कसौटि पर परखा जाता है।

मृत्यु दण्ड के पक्ष में युक्तियां

- मृत्युदण्ड के समर्थन में प्रतिकारवादी से लेकर उपयोगितावादी तर्क तक दिये जाते रहे हैं। प्रतिकारवादी तर्क मुख्यत: प्रतिशोध से संचालित होता है। इसके अनुसार अपराधी ने जघन्य अपराध करके स्वयं को मृत्युदंड का भागी बनाया है।
- इसके मूल में यह तर्क है कि दण्ड अपराध के अनुपात में दिया जाना चाहिए। क्योंकि जधन्य अपराध के लिए कमतर सजा तार्किक रूप से छोटे अपराध, जघन्य अपराध, भूलवश हुए अपराध और सुनियोजित अपराध के बीच के अंतर को समाप्त कर देती है। जिसके परिणामस्वरूप समाज का कानून व्यवस्था पर विश्वास प्रभावित होता है।

8

विकास एवं सामाजिक उन्नति

प्र. क्या प्रौद्योगिकीय विकास, समाज के नैतिक मानकों को प्रगति की ओर ले जाता है? स्पष्ट कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2019)

उत्तर: प्रौद्योगिकीय विकास ने मानव की भौतिक उन्नति का द्वार खोला है। इसने समय और दूरी के महत्व को सीमित कर दिया है। ज्ञान के क्षेत्र में कम्प्यूटर तकनीकी क्रांति ला दिया है तथा एक नये समाज की रचना कर रहे है, जिसे समाज वैज्ञानिक 'सूचना समाज' कह रहे है। तकनीकी विकास ने भौतिकवाद को बढ़ावा दिया है। उपभोक्तावादी मूल्यों पर बल दिया है, परिणामत: नैतिक मूल्यों का क्षरण हुआ है। वैभवपूर्ण भौतिक जीवन जीने की चाह ने मानव को अपराधी बनाया है। जहां एक ओर परमाणुविक ज्ञान के सदुपयोग ने जीवन को उन्नत किया है, वहीं इसके दुरुपयोग ने मानव अस्तित्व के समक्ष प्रश्न चिह्न खड़ा किया है।

- प्रौद्योगिकीय विकास और समाज के नैतिक मानकों में जटिल सम्बन्ध है। समाज के नैतिक मानक, मूल्य प्रेरित होते हैं, जिसका उद्देश्य मानवता का कल्याण करना होता है। प्रौद्योगिकी तथ्यात्मक होती है तथा लौकिक होती है। इसका उद्देश्य संसाधनों का बेहतर उपयोग करना है जिससे अच्छे परिणाम मिल सकें। परन्तु इसका सम्बन्ध नैतिक मूल्यों से नहीं होता है।
- यदि प्रौद्योगिकी विकास के साथ नैतिक मूल्यों को जोड़ दे, अर्थात् इसका उपयोग जनकल्याण में ही किया जाना चाहिए, विनाश में नहीं तब इसमें कुछ संभावना बनती है कि यह समाज के नैतिक मानकों की शांति दे सकता है। परन्तु यदि इसे नैतिक मूल्यों से नहीं जोड़ा जायेगा तो यह सिर्फ उपयोगकर्ता के ऊपर निर्भर करता है कि वह क्या चाहता है।
- संक्षेप में कहे तो तकनीकी विकास से भौतिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में प्रगति संभव है। किन्तु मूल्यात्मक क्षेत्रों में यह प्रत्यक्षत: असम्बद्ध है।

प्र. आर्थिक एवं राजनीतिक आदर्शों पर आधारित सामाजिक प्रगति की संकल्पना के विरुद्ध नैतिक सिद्धान्तों में निहित सामाजिक विकास की संकल्पना का मूल्यांकन कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2017)

उत्तर: सामाजिक प्रगति के विचार में नैतिक एवं आर्थिक प्रगति का भाव निहित होता है। नैतिक पक्ष से आशय सत्य, प्रेम, अहिंसा एवं आत्मा के शासन से है। पुन: सामाजिक प्रगति की अवधारणा को हम वैशेषिक दर्शन के धर्म में देख सकते हैं। यहां धर्म के संबंध में यह कहा गया है कि 'यतो अभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धिश्य धर्म' अर्थात जिससे भौतिक उत्थान और आध्यात्मिक कल्याण दोनों हो वही धर्म है। यह अवधारणा सामाजिक प्रगति के संदर्भ में भी लागू होती है। हम सामाजिक प्रगति के संबंध में ऐसा कह सकते हैं कि जब समाज अंधकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अव्यवस्था से सुव्यवस्था की ओर, अशुभ से शुभ की ओर और अवैज्ञानिकता से वैज्ञानिकता की ओर बढ़े तो इसे सामाजिक प्रगति की संज्ञा दी जाती है।

- सामाजिक प्रगति में ही सतत विकास की अवधारणा निहित है। यह विकास वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ-साथ भावी पीढ़ी की अपनी जरूरत पूरी करने एवं समस्या निदान की क्षमता पर नकारात्मक प्रभाव न पड़ने में निहित है। सतत विकास की अवधारणा में प्रकृति विजेता नहीं अपितु प्रकृति प्रेम एवं सहयोग का भाव विद्यमान है। वस्तुत: यह अवधारणा विकास के साथ-साथ प्रकृति एवं भावी पीढ़ी का भी पोषण करना चाहते थे। इस रूप में यह अवधारणा संरक्षित विकास की पक्षधर है।

सामाजिक प्रगति की इस अवधारणा में दो नैतिक पक्ष निहित हैं-

- यह अवधारणा हमारी अपराध भावना को स्पर्श करती है कि हमने प्रकृति का क्या हाल कर दिया है। इस रूप में इसमें एक प्रकार का कर्तव्य बोध का भाव निहित हैं
- सामाजिक प्रगति की इस अवधारणा में मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है कि वह अपने बच्चों के भविष्य को उज्जवल बनाना चाहता है। उन्हें समुचित संरक्षण प्रदान करना चाहता है और इसीलिए वह पर्यावरण संरक्षण करना चाहता है।
- स्पष्ट है कि सामाजिक प्रगति की इस नैतिक अवधारणा में मनुष्य प्रकृति के स्वामी के रूप में नहीं अपितु सहयोगी की भूमिका में है। अत: सामाजिक प्रगति अपने आप में एक नैतिक प्रत्यय हैं यह आदर्श का सूचक है। इसमें बाह्य पक्ष के साथ-साथ आंतरिक पक्ष एवं नैतिक मूल्य भी समाहित होते हैं। गांधी के शब्दों में सामाजिक प्रगति का एक रूप है सर्वोदय तथा सर्वध र्मसमभाव। सर्वोदय का तात्पर्य है- एक का और सबका उदय। अमीर एवं गरीब दोनों का उत्थान। अमीर का नैतिक उत्थान तथा गरीबों का आर्थिक उत्थान। ऐसी अवस्था में समाज में व्यक्ति का सहअस्तित्व संभव है और सभी एक दूसरे के धर्म के प्रति भी वही भाव रखेंगे जो भाव अपने धर्म के प्रति भी रखते हैं। यह स्थिति रामराज्य की अवस्था लाने में सहायक होगी जो सामाजिक प्रगति का चरमोत्कर्ष होगा।

9

लिंग भेद

प्र. एक सांस्कृतिक कोटि के रूप में लिंग-जाति (जेन्डर) तथा एक जीववैज्ञानिक कोटि के रूप में लिंग-भेद (सेक्स) के बीच विरोधाभास की विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: नारीवाद एक ऐसी अवधारणा है जो यह मानती है कि समाज में महिलाओं की निम्नतर स्थिति का कारण उनके साथ होने वाला लैंगिक भेदभाव (Gender) है। तब निम्नतर स्थिति जो जैविक निर्धारणवादी रही और पुरुष के मध्य के प्राकृतिक आधार पर न्यायोचित ठहराते हैं लेकिन नारीवाद का यह मानना है कि वास्तव में वह विभेद सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक शक्ति संरचना पर निर्भर है जिसका दोनों के बीच के जैव वैज्ञानिक विभेद से कोई लेना देना नहीं है।

- दूसरे शब्दों में नारीवादियों के अनुसार नैतिक विभेद के आकार पर लिंग भेद संबंधी नैतिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। उदाहरण: "जैविक रूप से महिला पुरुष में अंतर है।" यह एक तथ्यात्मक कथन है। परन्तु इस आधार पर तर्कत: यह निगमित नहीं किया जा सकता है कि "प्रामाणिक आर्थिक क्षेत्र में महिला पुरुष में अंतर होना चाहिए।"
- अत: नारीवादी पुरुषों के समान नारी की प्रतिष्ठा, अधिकार, अवसर, आहर व गरिमा की बात करते हैं।
- जेंडर और लैंगिक भेदभाव के मध्य अन्तर को दिखाना नारीवादियों का एक प्रमुख उद्देश्य है। उल्लेखनीय है कि जैविक निर्धारणवादी पुरुष और महिला के मध्य इस विभेद को ही आधार मानकर इस विभेद का विस्तार सामाजिक सांस्कृतिक स्तर तक कर देते हैं। जबकि नारीवादी इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि जैवीकीय विभेद से सामाजिक सांस्कृतिक विभेद अलग है। इस प्रकार नारीवादी अधिकारों को मानवाधिकारों की सामान्य श्रेणी में मान्यता देने, स्त्री को सामाजिक न्याय दिलाने इसे परंपरागत पराधीनता से मुक्ति प्रदान करने स्त्री पुरुष समानता को स्वीकार करने, स्त्रियों की क्षमता, साहस और योग्यता को पहचानने तथा 'स्त्री' की 'मानव' के रुप में पहचान का समर्थन करने वाला एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। यह नारी के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन लाने का भी प्रयास करता है।
- नारीवादी आंदोलन महिला उत्पीड़न के विभिन्न पहलुओं को समझने और उनका निदान करने की दिशा में एक निरंतर परिवर्तनशील विचारधारा है। नारीवादी दृष्टिकोण से संबंधित विभिन्न आंदोलनो में एक बात समान है कि सभी ने अपना ध्यान वर्तमान स्त्री-पुरुष संबंधों को बदलने पर केंद्रित किया हुआ है। दूसरे शब्दों में नारीवाद से संबंधित विभिन्न विचारधाराएं इस बात से पैदा होती है कि न्याय के लिए महिला को भी स्वतंत्रता और समानता दी जानी आवश्यक है। परन्तु इस स्वतंत्रता और समानता का क्या स्वरूप होगा, इनके कौन-कौन से कार्य होंगे- इस मुद्दे पर इनमें मतैक्य का अभाव है। परिणामस्वरुप नारीवादी आंदोलन से संबंधित कई मत उभर कर सामने आते हैं।

नारीवादी आंदोलन के विकास के क्रम में तीन मुख्य सिद्धांत दिखाई देते हैं-

(i) उदारवादी नारीवाद
(ii) समाजवादी नारीवाद
(iii) उग्र नारीवाद

- उदारवादी नारीवाद जहां लिंग विभेदीकरण को सामाजीकरण की उपज मानता है वहीं समाजवादी नारीवाद इसे वर्गीय संरचना पूंजीवादी व्यवस्था का परिणाम मानता है। उग्र नारीवाद में लैंगिक असमानता के मुख्य कारक के पितृसत्तात्मक व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है।

निष्कर्ष

अत: जहां उदारवादी नारीवाद एवं उग्र नारीवाद संरचनात्मक एवं ढांचागत परिवर्तन पर बल देते हैं। समाजवादी नारीवाद पूंजीवादी ढांचे में बदलाव की बात करता है। वहीं उग्र नारीवाद पितृसत्तात्मक ढांचे के उन्मूलन की बात करता है।

प्र. भूमि एवं संपत्ति के अधिकार किस प्रकार महिला सशक्तिकरण में प्रभावी हो सकते हैं?*(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)*

उत्तर: भूमि स्वामित्व महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त बनाता है। साथ ही सामाजिक और राजनीतिक लैंगिक असमानताओं को चुनौती देने की उनकी क्षमता को मजबूत करता है। जब महिलाओं की संपत्ति तक पहुंच होती है तो व्यवसाय आरंभ करने और उन्हें विकसित करने की उनकी क्षमता बढ़ती है। यह किसी से छिपा हुआ नहीं है कि महिलाओं की कृषि कार्य में प्रमुख भागीदारी है। इसके बावजूद उन्हें आधिकारिक रूप से किसानों के रूप में नहीं गिना जाता है क्योंकि भारत में अधिकांश महिलाएं भूमि की मालिक नहीं है।

- भारत में विरासत में मिली संपत्ति के लिए दावा करना महिलाओं के लिए आसान नहीं है। एक महिला का उचित हिस्सा इसके दहेज तक सीमित माना जाता है।

10

जाति भेद : गांधी एवं अंबेडकर

प्र. यह कहा जाता है कि भारत के सामाजिक व्यवहार पर जाति-आधारित समूहों की पारंपरिक पकड़, विकल्पी पहचानों का निर्माण करने के सभी प्रयासों के बावजूद, बनी रही है। मोहनदास करमचंद गांधी के आलोक में चर्चा कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2018)

उत्तर: गांधी जाति को हिन्दू सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था की एक बुराई मानते हैं। अत: उनके अनुसार जाति व्यवस्था हिन्दू समाज की वैध व्यवस्था नहीं है, अपितु हिन्दू समाज की कुरीति मात्र है और इस रूप में गांधी ने हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित जाति व्यवस्था का विरोध किया। परन्तु यदि जाति व्यवस्था की जगह वर्ण व्यवस्था की चर्चा की जाए तो गांधी इसका समर्थन करते हैं।

- यहां यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि वर्ण और जाति दोनों बिल्कुल अलग-अलग संकल्पनाएं हैं जहां वर्ण चार है वहीं जातियां अनेक हैं जहां वर्ण व्यवस्था प्राचीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का अंग रही है वहां जातियों का उद्‌भव व विकास बहुत बाद में हुआ है, जहां वर्णों के पीछे दार्शनिक आधार भूमि (गीता दर्शन, वैदिक दर्शन) विद्यमान है वहां जातियों के सन्दर्भ में इस प्रकार के किसी दार्शनिक दृष्टिकोण का ज्ञान नहीं प्राप्त होता है।
- गांधी अपनी परम्परावादी गीता और वैदिक दर्शन की दृष्टि के अनुरूप, वर्ण व्यवस्था का समर्थन तो करते हैं, क्योंकि यह उनके अनुसार हिन्दू धर्म का एक अनूठा आविष्कार है जो एक सामंजस्यपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए इजाद की गयी है। जबकि जाति के संदर्भ में ऐसा कुछ नहीं है और जाति सामाजिक व्यवस्था को बनाने के बजाय इसे विघटित करती है।
- गांधी दर्शन एक समग्रतावादी दर्शन है जिसमें उनका हर विचार एक दूसरे से जुड़ा हुआ है और वर्ण व्यवस्था भी उनके दार्शनिक विचारों की कड़ी का एक अनिवार्य हिस्सा है।
- स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान अपने इसी विचार के अनुरूप गांधी ने जब स्वतंत्रता संघर्ष पर विचार किया तो यह देखा कि भारत का पूरा स्वतंत्रता आंदोलन बिना किसी अध्यात्मिक लक्ष्य के गतिशील था। फलत: उन्होंने एक नए सिरे से पूरे स्वतंत्रता आंदोलन की एक रूप रेखा तय की, जिसमें अहिंसा और सत्य पर आधारित समाज बनाना अपना प्रमुख लक्ष्य मानते हुए सत्याग्रह के माध्यम से उन्होंने पहले ऐसे, आध्यात्मिक व्यक्तियों का एक समूह बनाने की चेष्ठा कि वो जो सत्य अहिंसा के इस मूल्य को समझकर और पवित्र साध्य को पाने के लिए पवित्र साधन का यह विचार इतना प्रिय था कि असहयोग आंदोलन के दौरान किसी हिंसा ने उसके साध्य साधन के दर्शन पर चोट पंहुचाई इसलिए उन्होंने तुरन्त इस आंदोलन को आगे बढ़ाया।
- गांधी के अनुसार किसी राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करना उतना जरूरी नहीं है जितना आध्यात्मिक मूल्यों पर टिके रहना। गांधी के पूरे स्वतंत्रता आंदोलन के कार्यक्रम में इसी आध्यात्मिक पहलू की छाप दिखाई देती है, जिसमें मुख्य जोर इस बात पर था कि सत्य और अहिंसा के माध्यम से अन्तत: अंग्रेजों का हृदय परिवर्तन हो जाएगा और वे स्वत: देश छोड़कर चले जाएंगे। पूंजीपतियों, जाति व्यवस्था की कुरीति में फंसे लोगों, जमींदारों इत्यादि के कार्यों को अनुचित मानते हुए भी उनके विरूद्ध हिंसा का समर्थन न करते हुए अन्तत: उनके सन्दर्भ में भी हृदय परिवर्तन की बात करते है।
- गांधी के अनुसार हिंदू समाज में वर्ण व्यवस्था में आयी कुरीति जिसके कारण वर्ण व्यवस्था ऊंचा-नीचा, छुआ-छूत, कर्मों के मूल्य तय करने जैसी बुराइयों से भर गई है। उसे दूर करने का तरीका भी वर्ण संघर्ष नहीं बल्कि अन्तत: हृदय परिवर्तन ही होना चाहिए और अन्तत: सत्याग्रह के माध्यम से समाज के उन वर्गों का हृदय परिर्वतन किया जा सकेगा, जिन्होंने अनुचित आधार पर कुछ विशेषधिकार हासिल करते हुए वर्ण व्यवस्था के मौलिक स्वरूप को नष्ट कर दिया। अत: यद्यपि वर्ण व्यवस्था वर्तमान समय में प्रदूषित हो चुकी है तथापि इसका निदान यह नहीं है कि वर्ण व्यवस्था को छोड़ दिया जाए बल्कि इसका निदान यह है कि वैज्ञानिक व्यवस्था की बुराइयों को दूर किया जाये और उसके समतामूलक मौलिक और आध्यात्मिक स्वरूप को पुनर्जीवित किया जाये।

गांधी दर्शन की प्रमुख आलोचनाएं

1. गांधी के वर्ण व्यवस्था का विचार कुछ अपरीक्षित पूर्व मान्यताओं पर टिका हुआ है अत: इस विचार को मानना तभी अनिवार्य होता है जब उन पूर्व मान्यताओं को स्वीकार्य कर लिया जाए। परन्तु यदि कोई पहले की इन मान्यताओं से सहमत न हो तो गांधी के वर्ण व्यवस्था के विचार को स्वीकार करने की बाध्यता समाप्त हो जाती है।
   - उदाहरण के लिए गांधी के अनुसार वर्ण का विभाजन सत्व, तमस रजस इत्यादि गुणों के आधार पर होता है जो विशिष्ट किस्म की क्षमताओं से संबंधित है।

धर्म दर्शन

1 ईश्वर की धारणा

प्र. *स्पिनोजा की ईश्वर तथा उसकी विशेषताओं की अवधारणा पर एक निबंध लिखिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)*

उत्तर: स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर या द्रव्य एक पूर्णत: स्वतंत्र, असीम और स्वयंभू सत्ता है। द्रव्य की परिभाषा देते हुए स्पिनोजा ने कहा है- "द्रव्य वह है जो आत्मनिहित हो और जिसका बोध अपने आप से होता हो"।

- स्पिनोजा ने द्रव्य को ही ईश्वर कहा है। द्रव्य की परिभाषा से स्पष्ट है कि इसका स्वरूप ऐसा है कि इसे अपने अस्तित्व के लिए किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं है लेकिन अन्य सभी चीजें द्रव्य या ईश्वर पर निर्भर हैं। ईश्वर ही एक मात्र निरपेक्ष सत्ता है, सबका मूलाधार है। चूंकि अंतिम रूप से केवल ईश्वर की ही सत्ता है, इसलिए जिस किसी भी चीज की सत्ता है वह ईश्वर ही है। ईश्वर और सत्ता समव्यापी हैं। संपूर्ण सत्ता ईश्वर है और ईश्वर ही संपूर्ण सत्ता है। इसलिए स्पिनोजा का मत सर्वेश्वरवाद (विश्व=ईश्वर) कहलाता है।
- स्पिनोजा के ईश्वर के साथ विश्व का संबंध तादात्म्यमूलक ही हो सकता है। ईश्वर संपूर्ण सत्ता है और विश्व को भी संपूर्ण सत्ता का द्योतक माना जाता है। अत: ईश्वर और विश्व अलग-अलग नहीं हैं, दोनों अभिन्न हैं। ईश्वर पूर्णत: विश्वव्यापी है और विश्व पूर्णत: ईश्वराधीन है। (All is God and God is All)
- स्पिनोजा के मतानुसार, ईश्वर ही विश्व का कारण है, परन्तु ईश्वर अंतर्यामी कारण है, दूरस्थ कारण नहीं। ईश्वर जगत की सृष्टि अपने से भिन्न और स्वतंत्र रूप से नहीं करता। ईश्वर विश्व का अंतर्निहित कारण है।
- अब यदि हम ईश्वर को सक्रिय अंतर्यामी कारण समझे जिससे कि विश्व का प्रतिक्षण पालन होता है तो इस रूप में स्पिनोजा ने ईश्वर "नेचुरा नेचुरन्स" कहा है। फिर यदि हम ईश्वर को विश्व की वस्तुओं की समग्रता या कार्यरूप में देखे तो ईश्वर को स्पिनोजा ने "नेचुरा नेचुरेटा" कहा है।
- स्पिनोजा का ईश्वर व्यक्ति रहित है, क्योंकि व्यक्तित्व का आरोपण करने पर वह सीमित हो जायेगा। और सीमित होने पर इसका ऐश्वर्य समाप्त हो जायेगा। व्यक्तित्व का अभाव होने से इसमें अच्छा और प्रयोजन का आरोप भी नहीं किया जा सकता। इसलिए ईश्वर से विश्व की उत्पत्ति भी प्रयोजनपूर्ण नहीं है बल्कि ईश्वर की प्रकृति का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है।

निष्कर्ष

विश्व का कण-कण ईश्वरमय है। इसलिए काल सापेक्ष सृष्टि स्पिनोजा को स्वीकार्य नहीं है। ईश्वर का विश्व से काल-निरपेक्ष शाश्वत संबंध है।

प्र. क्या ईश्वर में विश्वास के बिना धार्मिक जीवन संभव है? विवेचना कीजिए। *(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)*

उत्तर: जेम्स मार्टिन्यू को अनुसार- "धर्म चिरन्तन ईश्वर में विश्वास और उसकी आराधना है। यह धर्म अति मानस और दैवीय संकल्परूप है जो अखिल ब्रह्मांड पर शासन करता है और मानवता को नैतिक सूत्रों से संबद्ध करता है।"

- धर्म की परंपरागत पाश्चात्य परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि धर्म के लिए किसी अति प्राकृतिक सत्ता का होना आवश्यक है। परन्तु यदि इन परिभाषाओं को ध्यान में रखे तो फिर जैन और बौद्ध आदि को लेकर समस्या उत्पन्न हो जाती है। उल्लेखनीय है कि इनमें 'ईश्वर' के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है फिर भी इन्हें धर्म कहा जाता है।
- पाश्चात्य दर्शनिक इन्हें धर्म न कहकर आचार-दर्शन या अतिधर्म कहते हैं ओर इस प्रकार उन्हें धर्म के क्षेत्र से बहिष्कृत करते हैं। यह सही है कि ईश्वरवाद धर्म का एक प्रमुख रूप है परन्तु धर्म को ईश्वरवाद नहीं कहा जा सकता। धर्म अधिक व्यापक संप्रत्यय हैं इसमें ईश्वरवाद के अतिरिक्त जैन व बौद्ध आदि भी सम्मिलित हैं। इसे निम्न तर्कों के आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं-
- धर्म का मुख्य उद्देश्य यह नहीं है कि ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति की आराधना की जाये। धर्म का उद्देश्य है- मानव कल्याण।
- विभिन्न प्रचलित धर्मों में किसी आध्यात्मिक परम लक्ष्य को सर्वोच्च स्तर पर स्थापित किया गया है। जैन दर्शन में कैवल्य और बौद्ध दर्शन ने निर्वाण के रूप में यह अवलोकित होता है।
- प्रत्येक धर्म का कोई न कोई धर्मग्रन्थ अवश्य होता है जिसमें धर्म से संबंधित मान्यताओं, विश्वासों, शिक्षाओं एवं उद्देश्यों की विवेचना होती है।

अत: रिलिजन के मूलभूत पक्षों एवं विशेषताओं को देखते हुए व्यापक अर्थ में हम कह सकते हैं कि अनश्वरवाद का एक रूप भी धर्म की संज्ञा पा सकता है। वस्तुत: ईश्वर में आस्था के बिना भी सत्य, अहिंसा, प्रेम, संयम, शुभ आदि के प्रति आस्था रखना ही धर्म है।

2

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण और उसकी मीमांसा

प्र. "ईश्वर सत्तावान है" इस वाक्य के सन्दर्भ में धार्मिक भाषा सम्बन्धित संज्ञानात्मक (कॉग्निटिविस्ट) तथा असंज्ञानात्मक (नॉन-कॉग्निटिविस्ट) दृष्टिकोणों में भेद की व्याख्या कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: ईश्वर को सामान्यत: अनुभवातीत एवं तर्क बुद्धि से परे सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है। फिर भी ईश्वरवादियों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि हेतु नाना प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत किए गये हैं। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने विश्वासों को तर्कों के द्वारा पुष्ट एवं प्रभावी करना चाहता है। इसी स्वभाव के कारण धार्मिक व्यक्ति भी अपने धार्मिक विश्वासों को तर्कों द्वारा प्रमाणित करने का प्रयास करता है। तर्कों के अभाव में कोई भी विश्वास अंधविश्वास की श्रेणी में आ जाता है।

- अत: ईश्वर के अस्तित्व के संदर्भ में दिये गये तर्क ईश्वरीय विश्वास को अंधविश्वास होने से बचाने का प्रयास करते हैं। इस संबंध में लॉत्जे का यह कथन उल्लेखनीय है कि-"ईश्वर का अस्तित्व है, इस संबंध में समस्त प्रमाण हमारी आस्था के पक्ष में दिया गया तर्क है और इस विशिष्ट विधि को प्रमाणित करते हैं। जिससे कि हमे सर्वोच्च तत्व को देखना चाहिए।" ईश्वरवादी यह मानते हैं कि धार्मिक वाक्य संज्ञानात्मक है।
- इसी कारण वह धार्मिक वाक्यों के समर्थन में तथ्यात्मक तथा तर्कपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। वह यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि वस्तुत: ईश्वर का अस्तित्व है। वह कोई काल्पनिक सत्ता या मन निर्मित विचारमात्र नहीं है।
- ईश्वर के अस्तित्व-सिद्धि संबंधी प्रमाणों को दो वर्गों में बांट कर देखा जा सकता है- 1. निगमनात्मक प्रमाण 2. आगमनात्मक प्रमाण।
- निगमनात्मक प्रमाण में स्वयं सिद्ध अथवा पूर्ण धारणाओं, विचारों या प्रत्ययों के आधार पर अनिवार्य रूप से निष्कर्ष को सिद्ध किया जाता है। निगमनात्मक प्रमाण में पदों के विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष को प्रतिपादित किया जाता है।
- ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि का दूसरा प्रमाण आगमनात्मक हो सकता है। आगमनात्मक प्रमाण में कुछ घटना विशेषों का देखकर उनका सामान्यीकरण किया जाता है। जैसे कुछ कौओं को काला देखकर यह निष्कर्ष निकालना कि सभी कौए काले हैं। यहां निरीक्षित तथ्यों के आधार पर तथ्यात्मक निष्कर्ष स्थापित किया जाता है।
- एकेश्वरवादी के अनुसार ईश्वर ऐसी पूर्ण सत्ता है जिसका न होना सोचा ही नहीं जा सकता अर्थात् ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व है, परन्तु ईश्वर की अनिवार्य वास्तविकता आत्मविरोधी प्रत्यय है।

प्र. ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिए सेंट थॉमस एक्वाइनस द्वारा प्रदत्त विभिन्न युक्तियों, जिन्हें 'पांच मार्ग (फाइव वेस)' भी कहा जाता है, की समालोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत कीजिए। इनमें से कौन आपको दार्शनिक रूप से सबसे रोचक लगती है? अपने उत्तर के समर्थन में युक्तियां प्रस्तुत कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: थॉमस एक्पाइनस ने अपने सम्मा थियोलौजिका नामक पुस्तक में ईश्वर के विश्वमूलक प्रमाण के विभिन्न रूपों की विस्तृत विवेचना की है। इसमें तीन विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं-

- गति संबंधी प्रमाण- इस प्रमाण के द्वारा विश्व में विद्यमान गति के आधार पर, मूल गति प्रदानकर्ता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जाता है। विश्व में सर्वत्र गति एवं परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस ब्रह्माण्ड के समस्त ग्रह परिवर्तनशील हैं। पृथ्वी भी अपने अक्ष पर सदैव घुमती रहती है। यह अनुभव सिद्ध है कि कोई भी वस्तु स्वत: गतिशील नहीं हो सकती। जैसे- पंखा, साइकिल आदि। इसी प्रकार वैश्विक गति का कोई न कोई मूल स्रोत अवश्य होना चाहिए। हम अनवस्था दोष में फंस जायेंगे।
- अत: इस अनावस्था दोष से बचने के लिए एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है जो स्वयं अपरिवर्तित एवं गतिशील न होते हुए भी विश्व की समस्त वस्तुओं की गति का आदि स्रोत हो। यह सत्ता ईश्वर है। अरस्तू ने इसी संदर्भ में ईश्वर को 'unmoved mover' कहा है।

आलोचना

1. इस प्रमाण में गतिहीन ईश्वर को समस्त गति का आदि स्रोत माना गया है। यह अनुभव के विपरित है। अनुभव से हमे ज्ञात होता है कि केवल वही सत्ता या वस्तु गति उत्पन्न कर सकती है, जो स्वयं गतिशील हो।
2. इस प्रमाण से केवल यही प्रमाणित होता है कि विश्व में विद्यमान गति का कई आदि कारण है। परन्तु वह कारण ईश्वर ही है, ऐसा प्रमाणित नहीं होता।

3

अशुभ की समस्या

प्र. "आत्मा की अमरता पुनर्जन्म के लिए एक अनिवार्य आधारतत्त्व है।" बौद्धधर्म के सन्दर्भ में समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: चार्वाक को छोड़कर अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा को नित्य शाश्वत, अमरतत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद का सिद्धांत आत्मा संबंधी परंपरागत मतों से भिन्नता एवं विपरीतता को दर्शाता है। अनात्मवाद का सिद्धांत बौद्ध दर्शन के कारणता सिद्धांत प्रतीत्यसमुत्पाद की तार्किक परिणति है।

- अनात्मवाद के अनुसार आत्मा, नित्य, शाश्वत अमर नहीं है अपितु वह भी सांसारिक वस्तुओं की भांति परिवर्तनशील है। यदि अनात्मवाद के शाब्दिक एवं संकीर्ण अर्थ को लिया जाये तो अनात्मवाद का आशय आत्मा के अस्तित्व के खंडन या इसकी अस्तित्व के खंडन या उसकी अस्तित्वविहीनता होगा। ऐसी स्थिति में यह सिद्धांत उच्छेदवाद के समतुल्य होगा। ऐसा मानने पर मध्यमा प्रतिपदा के उनके सिद्धांत का खंडन हो जायेगा। अत: अनात्मवाद का यह अर्थ अस्वीकार्य है।
- बुद्ध के अनुसार शाश्वत आत्मा में विश्वास इसी प्रकार हास्यास्पद है जिस प्रकार कल्पित सुन्दर नारी के प्रति अनुराग रखना हास्यस्पद है।
- बुद्ध के अनुसार शाश्वत आत्मा मन और शरीर का संकलन या समुच्चयमात्र है। इस संकलन में भी प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहते हैं।
- बौद्ध धर्म उपदेशक नागसेन, 'मिलिन्द प्रश्न' में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार धुरी, चक्के, रस्सियों, घोड़े आदि के संघात-विशेष को 'रथ' कहा जाता है इसी तरह से पंचस्कन्धों की समष्टि का नाम आत्मा है। आत्मा पंचस्कन्धों का संघात है। ये पांच स्कन्ध हैं-रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।
- ये स्कंध आत्मा के घटक हैं। इनमें रूपस्कंध आत्मा का भौतिक घटक है और वेदना स्कंध, संज्ञा स्कंध, संस्कार स्कंध और विज्ञान स्कंध उसके मानसिक घटक है। इस प्रकार आत्मा भौतिक एवं मानसिक तत्वों की समष्टि का नाम है। स्कंधों के परिवर्तनशील होने के कारण आत्मा भी सदैव परिवर्तनशील है। पाश्चात्य विचारक विलियम जेम्स ने भी आत्मा को विज्ञानों का प्रवाह कहा है।

प्र. क्या एक यथार्थ कर्ता की अवधारणा के बिना मोक्ष की अवधारणा सम्भव है? इस सन्दर्भ में अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत दर्शन के बीच अन्तर की विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: शंकर परमार्थिक दृष्टिकोण से यह कहते हैं कि ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव और ब्रह्म का संबंध अभिन्न है। निर्गुण, निराकार ब्रह्म जब माया की उपाधि से युक्त होता है तो इसे सगुण ब्रह्म अर्थात ईश्वर कहा जाता है। सगुण ब्रह्म ही इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारक है। जीव भी व्यवहारिक दृष्टि से इस जगत से संबंधित है।

- शंकर के अनुसार अविद्या या अज्ञान से आत्मा को शरीरधारी व्यक्ति बनने के लिए बाध्य होना पड़ता है। यही बंधन है। जीव का यह बंधन केवल इसकी कल्पना ही है, वस्तुगत या सत्तागत नहीं। क्योंकि परमार्थत: वह ब्रह्म ही है।
- अज्ञान का निवारण ब्रह्म ज्ञान से होता है। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि अनिवार्य है। इसके लिए चार साधनों को अपनाना पड़ता है जिसे साधन चतुष्टय कहा जाता है।

साधन-चातुष्टय के अन्तर्गत निम्न चार की गणना होती है-

1. नित्यानित्यवस्तु विवेक- नित्य और अनित्य में अंतर का ज्ञान होना चाहिए
2. इहामुत्रार्थ भोग विराग- इस लोक और परलोक के भोग से विराग हाना चाहिए।
3. शमदमादिसाधनसम्पत्-ज्ञान-प्राप्ति के लिए साधक को शम, दम, श्रद्ध, समाधान उपरित और तितिक्षा रूपी साधनों से युक्त होना चाहिए

   इनका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है-
   - शम अर्थात् मन का संयम
   - दम अर्थात् इन्द्रियों का दमन
   - श्रद्धा- शास्त्रों में निष्ठा श्रद्धा है।
   - समाधान- चित्त को ज्ञान के साधन में लगाना सामधान है।
   - उपरित- विक्षेपकारी कार्यों से स्वयं को अलग रखना।
   - तितिक्षा- गर्मी-सर्दी सहन करने की क्षमता होनी चाहिए।
4. मुमुक्षुत्व- साधक में मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल आंकाक्षा होनी चाहिए।

- साधन चातुष्टय को पूरा करने के बाद व्यक्ति को योग्य गुरु के पास जाना चाहिए। साधक को गुरु से ईश्वर, आत्मा, जगत आदि के वास्तविक स्वरूप के बारे में शास्त्रनिहित कथनों का श्रवण करना आवश्यक है। मोक्ष की स्थिति में सत्-चित्त-आनंद की प्राप्ति होती है। शंकर के मोक्ष की इस अवधारणा में मोक्ष संबंधी विचारों की पूर्णता झलकती है। शंकर के दर्शन में मोक्ष के स्तर पर ज्ञान का सूर्य अलोकित होता है। शंकर मोक्ष को जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं।

4

आत्मा

प्र. हिन्दू परम्परा के विशेष सन्दर्भ में आत्मा की अमरता की अवधारणा की विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: अमरता आत्मा की अवधारणा से जुड़ी है। मनुष्य प्राचीन काल से ही भौतिक शरीर और आध्यात्मिक आत्मा में विभेद करता रहा है।

- शरीर के विनाश के बाद भी आत्मा का अस्तित्व किसी न किसी रूप में कायम रहता है। अत: आत्मा की धारणा के अनुसार आत्मा अविनाशी है। मृत्यु से केवल शरीर नष्ट होता है। आत्मा नहीं। गीता में कहा गया है-

"न जायते म्रियते व कदाचिन्नाय
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अज्ञो नित्या श्वाश्वतोडयं पुराणों
न हन्यते हन्यामाने शरीरे।।"

अर्थात यह आत्मा कभी जन्म नहीं लेती या मरती भी नहीं है। जन्म-रहित, मृत्यु रहित, नित्य तथा सनातन यह आत्मा देह के हत् होने पर अर्थात् नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता है।

- उपनिषदों में कहा गया है कि अज्ञान अथवा अज्ञान वश किये गये कर्म के कारण ही अमर आत्मा देह धारण करती है। जब तक आत्मा को ज्ञान नहीं होता, तब तक वह अनेक योनियों में भ्रमण करती रहती है।
- पाश्चात्य दार्शनिकों और धर्म शास्त्रियों ने अमरता में विश्वास की अवधारणा का दो प्रकार से समर्थन किया। प्रथम मत के अनुसार मानव, आत्मा और मूल्य स्वभावत: अविनाशी एवं शाश्वत् हैं दूसरे मत के अनुसार ईश्वर मनुष्य को पुनर्जीवन अर्थात् नवीन जीवन प्रदान कर सकता है। ये दोनों विश्वास अलग-अलग मान्यताओं पर आधारित है।

प्र. क्या आप स्वीकारते हैं कि भारतीय परंपरा में ज्ञान, कर्म और भक्ति मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं? विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2020)

प्रश्न की मांग: भारतीय परंपरा में ज्ञान, कर्म और भक्ति मोक्ष के साधन माने गए हैं। इस पर अपने विचारों के साथ इस तथ्य को समझाना है।

उत्तर: ज्ञान, कर्म और भक्ति, ये तीन ही रास्ते हैं जो जन्म-मरण के चक्र से आत्मा को बाहर निकालकर परमात्मा तक ले जा सकते हैं। कर्म करें उसे परमात्मा से जोड़ दें, ये कर्म योग है। ज्ञान प्राप्त करें और उसका आधार परमात्मा हो, ये ज्ञान योग है।

- भक्ति में हमारा मन उसी परमात्मा की स्तुति करें, प्राणी मात्र में उसके दर्शन हो जाएं, ये भक्ति योग है। सनातन धार्मिक ग्रंथों में गीता को जीवन प्रबंधन की पुस्तक माना गया है। महाभारत युद्ध के प्रारंभ में कुरुक्षेत्र में पांडव और कौरव सेना के बीच खड़े होकर भगवान कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। गीता मोक्ष का मार्ग दिखाती है। अब तो मैनेजमेंट स्कूल्स में गीता के जरिए मैनेजमेंट सूत्र पढ़ाए जा रहे हैं। गीता जीवन के लिए तीन मार्ग खोलती है। कर्म, भक्ति और ज्ञान।
- कृष्ण ने अर्जुन को कर्म योग, ज्ञान योग और भक्ति योग की शिक्षा दी। ये तीन ही रास्ते हैं जो जन्म-मरण के चक्र से आत्मा को बाहर निकालकर परमात्मा तक ले जा सकते हैं। कर्म करें उसे परमात्मा से जोड़ दें, ये कर्म योग है। ज्ञान प्राप्त करें और उसका आधार परमात्मा हो, ये ज्ञान योग है। भक्ति में हमारा मन उसी परमात्मा की स्तुति करे, प्राणी मात्र में उसके दर्शन हो जाएं, ये भक्ति योग है। गीता कठिन सवालों का सरल जवाब है।
- कृष्ण का जीवन और गीता का उपदेश इन्हीं तीन चीजों पर टिका है। कृष्ण ने गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग कहे हैं। पूरी महाभारत में। भगवान के तीन मित्र हैं अर्जुन, उद्धव और सुदामा। अर्जुन कर्म का प्रतीक है, उद्धव ज्ञान के और सुदामा भक्ति के। ये तीन मित्र ही हैं जो हमें जीवन को सही रास्ते पर ले जाते हैं। वैसे ही तीन महिलाएं हैं, द्रौपदी, राधा और कुंती। द्रौपदी कर्म की प्रतीक हैं, राधा भक्ति की और कुंती ज्ञान की। कृष्ण का संपूर्ण जीवन और गीता का सार तत्व इन तीनों योगों पर ही टिका है।
- जब युद्ध के तुरंत पहले, सामने खड़ी सेना में अपने ही परिजनों को देखकर अर्जुन दुखी हुए। संन्यास का मन बना लिया, तब युद्ध रोकने का हर संभव प्रयास कर चुके कृष्ण ने उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित किया। ये बड़ा भारी विरोधाभास है। जो कृष्ण शांति दूत बनकर गए, इंद्रप्रस्थ ना देने पर दुर्योधन से पांच गांव मांग कर भी युद्ध टालने को राजी थे, वो अर्जुन को समझा रहे हैं कि युद्ध कर और उन सबको मार जो अधर्म के शिविर में हैं। गीता सिर्फ पढ़ने वाला ग्रंथ नहीं है।

निष्कर्ष

स्पष्ट है कि मनुष्य की प्रवृत्तियों के अनुसार ईश्वर ने मोक्ष के मार्ग बताए हैं। भावुक लोगों के लिए भक्ति मार्ग, क्रियाशील लोगों के लिए कर्म योग और विवेकी पुरुषों के लिए ज्ञान योग श्रेष्ठ माना गया है।

5

तर्कबुद्धि श्रुति एवं आस्था

प्र. क्या आस्था की अवधारणा इलहाम (रविलेशन) की अवधारणा के लिए अपरिहार्य है? समालोचनात्मक टिप्पणी कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: ईश्वर, आत्मा जगत प्रयोजन, प्रार्थना, भक्ति इत्यादि से संबंधित ज्ञान को सामान्यत: धार्मिक ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। धर्म-ग्रंथों में विद्यमान धार्मिक ज्ञान हमारे जीवन का मार्गदर्शन करते हैं तथा हमारे आचरण को सद्गुणों से युक्त करते हैं। धार्मिक व्यक्ति धर्म संबंधी अपने ज्ञान को संज्ञानात्मक या तथ्यपरक मानता है। इनके अनुसार धार्मिक कथनों से ईश्वर के अस्तित्व इसके गुणों तथा कृतियों का ज्ञान प्राप्त होता है।

- धर्मिक ज्ञान प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण आधार देव-प्रकाशन या श्रुति या 'इहलाभ' है। धार्मिक क्षेत्र में दैव-प्रकाशना इस माध्यम को कहा जाता है, जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं अपने स्वरूप और अस्तित्व की जानकारी मनुष्यों को देता है। जॉन टिक के अनुसार-"दैव-प्रकाशना मानव को दैव प्रमाणित सत्यों का प्रकटीकरण है।"
- कैथोलिक-इनसाइक्लोपिडिया के अनुसार दैव-प्रकाशना ईश्वर द्वारा बौद्धिक प्राणियों के बीच असाधारण साधन के द्वारा कुछ सत्यों का प्रकटीकरण है। ईश्वर अवतार, धर्मशास्त्र, आकाशवाणी इत्यादि के माध्यम से स्वयं को प्रकट करता है। दैव प्रकाशना धार्मिक व्यक्ति की ईश्वर-मिलन की तीव्र उत्कंठा या व्याकुलता का परिणाम है।

आलोचना- विभिन्न दैव प्रकाशित कथनों में अनेक रूपता एवं विरोध दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में वास्तविक कथन का निर्धारण कठिन हो जाता है। इन्द्रिय अनुभव की सीमा से परे रहने के कारण यह कठिनाई और बढ़ जाती है। दैव-प्रकाशना विश्व को ईश्वर की एक विशिष्ट देन है। इसका बोध केवल उन्हीं व्यक्तियों को होता है जिस पर ईश्वर की अनुकम्पा होती है।

- जॉन हिक के अनुसार, मनुष्य सीमित एवं अपूर्ण होने के कारण स्वयं ईश्वरीय गुणों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि ईश्वरीय गुण असीम एवं पूर्ण है। ये गुण ईश्वर द्वारा स्वयं मारव को परिलक्षित कराये जाते हैं।

प्र. "केवल एक परम सत्य की अविवाद्य स्वीकार्यता अपरिहार्य रूप से धार्मिक व्यावर्तकतावाद में फलित होगी।" व्याख्या कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: धार्मिक ज्ञान के स्वरूप के निर्धारण तथा अन्य प्रकार के ज्ञान से इसकी भिन्नता को दर्शाने के लिए सर्वप्रथम ज्ञान के अर्थ और इसके लिए निर्धारित आवश्यक कसौटियों पर विचार करना आवश्यक है। समकालीन दार्शनिक ए.जे. एयर तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने ज्ञान के लिए तीन अनिवार्य कसौटियों का उल्लेख किया है।

1. ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति जिसे जानने का दावा करे वह उसमें अवश्य विश्वास करे।
2. यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु, घटना या जीव के बारे में जानता है तो वास्तव में उस वस्तु, घटना या जीव का सत्य होना अनिवार्य है। उदाहरणस्वरूप-यदि कोई यह जानता है कि 'वर्षा हो रही है' तो फिर वास्तव में उस ज्ञान के अनुरूप इस समय वर्षा का होना आवश्यक है। अन्यथा इसका यह कथन बोधगम्य नहीं रह पायेगा। दूसरे शब्दों में ज्ञान का सत्य होना आवश्यक है।
3. व्यक्ति, जिस वस्तु, घटना या जीव के बारे में जानता है इसकी पुष्टि के लिए समुचित प्रमाणों का होना भी आवश्यक है।

- धार्मिक ज्ञान के संदर्भ में उपरोक्त तीन कसौटियों में से पहली कसौटी पूर्णत: लागू होती है, परन्तु अन्य दो कसौटियों के संबंध में समस्या उभरकर सामने आ जाती है। धार्मिक ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए यह निर्धारित करना आवश्यक है कि आखिर धार्मिक ज्ञान अकारिक है अथवा तथ्यात्मक। अकारिक ज्ञान कुछ विशेष शब्दों या चिह्नों के पूर्व निर्धारित परंपरागत अर्थ पर निर्भर करता है।
- अकारिक ज्ञान द्वारा जीवन अथवा इससे संबंधित किसी वस्तु के विषय में कोई तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों द्वारा शब्दार्थ या परिभाषा का जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है इसे ही अकारिक ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। ऐसा ज्ञान विशेषत: गणित और तर्कशास्त्र में पाया जाता है। यह ज्ञान अनिवार्य एवं असंदिग्ध होता है।
- अकारिक ज्ञान तथ्यपरक न होकर केवल विश्लेषणात्मक या पुनरुक्तिमय होता है। धर्म परायण व्यक्ति धार्मिक ज्ञान को तथ्यात्मक या संज्ञानात्मक कथन मानता है। विश्लेषणात्मक कथन नहीं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि क्या धार्मिक कथन भी विश्लेषणात्मक कथनों की भांति अनिवार्य एवं असंदिग्ध है?
- धर्मपरायण व्यक्ति धार्मिक कथनों को अनिवार्य मानता है। परन्तु इन कथनों को अनिवार्यता विश्लेषणात्मक कथनों की अनिवार्यता से भिन्न प्रकार का माना जाता है। धार्मिक कथनों की अनिवार्यता कुछ विशेष शब्दों के पूर्व निर्धारित निश्चित अर्थ पर आधारित नहीं होती।

6

धार्मिक अनुभव

प्र. धार्मिक बहुलवाद के प्रसंग में परम सत्य की संभावना की विवेचना कीजिए। ***(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)***

उत्तर: धार्मिक बहुलवाद समाज में सह-अस्तित्व में मौजूद धार्मिक विश्वास प्रणालियों की विविधता के संबंध में एक दृष्टिकोण या नीति है। यह निम्न में से एक या अधिक को इंगित कर सकती है।

- विश्व दृष्टि के नाम के रूप में जिसके अनुसार किसी के अपने धर्म को सत्य का एकमात्र और अनन्य स्रोत नहीं माना जाता है। और इस प्रकार यह स्वीकृति है कि अन्य धर्मों में कम से कम कुछ सत्य और सच्चे मूल्य स्थित है।
- इस अवधारणा की स्वीकृति के रूप में कि परस्पर अनन्य सत्य दावों वाले हो या दो से अधिक धर्म समान रूप से मान्य है। इसे या तो सहिष्णुता (एक अवधारणा जो धर्म के यूरोपीय मुद्दों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई। या नैतिक सापेक्षवाद का एक रूप माना जा सकता है।
- यह समझ कि अलग-अलग धर्मों के अनन्य दावे, करीब से जांच करने पर, सार्वभौमिक सत्य के रूपांतर बन जाते हैं जिन्हें प्राचीन कल से पढ़ाया जाता रहा है। इसे 'परंपरावाद' कहा जाता है।
- कभी-कभी सार्वभौमवाद के पर्याय के रूप में यानी एक धर्म के भीतर विभिन्न धर्मों या विभिन्न सम्प्रदायों के बीच एकता सहयोग और बेहतर समझ के स्तर को बढ़ावा देना।
- विभिन्न धर्मों या धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायियों के बीच सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थिति के लिए एक शब्द के रूप में। एक सामाजिक आदर्श के रूप में।

प्र. हिन्दू धर्म की एक आवश्यक पूर्व-मान्यता के रूप में कर्म के सिद्धान्त की विवेचना एवं मूल्यांकन कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: कर्म हिन्दू धर्म की वह अवधारणा है, जो एक प्रणाली के माध्यम से कार्य-कारण के सिद्धांत की व्याख्या करती है जहां पिछले हितकर कार्यों का हितकर प्रभाव और हानिकारक कार्यों का हानिकारक प्रभाव प्राप्त होता है, जो पुनर्जन्म का एक चक्र बनाते हुए आत्मा के जीवन में पुन: अवतरण या पुनर्जन्म की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की एक प्रणाली की रचना करती है। मान्यताओं के अनुसार कार्य-कारण सिद्धांत न केवल भौतिक विश्व में लागू होता है बल्कि हमारे विचारों, शब्दों कार्यों और उन कार्यों पर भी लागू होता है जो हमारे निर्देशों पर दूसरे किया करते हैं।

- जब पुनर्जन्म का चक्र समाप्त हो जाता है तब कहा जाता है कि उस व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है। या संसार से मुक्ति मिलती है। सभी पुनर्जन्म मानव योनि में ही नहीं होते हैं। पृथ्वी पर जन्म और मृत्यु का चक्र 84 लाख योनियों में चलता रहता है। लेकिन केवल मानव योनि में ही इस चक्र सक बाहर निकलना संभव है।
- कर्म के परिणाम या उसके अभाव को नियंत्रित करने में दैवीय शक्ति की भूमिका के बारे में हिन्दू धर्म में कई भिन्न प्रकार के दर्शन हैं, कुछ का स्वरूप आज भी वर्तमान है और कुछ ऐतिहासिक है।
- हिन्दू धर्म के प्रमुख मत वेदांत के अनुयायी आज भी अस्तित्व में हैं, जिनका मानना है कि ईश्वर, परमात्मा अपनी भूमिका निभा रहा है। वेदांत दर्शन के अनुसार परमात्मा मूलभूत रूप से कर्म को लागू करने वाला है किन्तु अच्छे या बुरे को चुनने के लिए मनुष्य स्वतंत्र होता है।

प्र. धार्मिक अनुभव को किस सीमा तक सार्वजनिक संवाद का एक विषय बनाया जा सकता है? विश्लेषण कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2019)

उत्तर: धार्मिक अनुभूति के सन्दर्भ में ऐसा कह सकते हैं कि धार्मिक अनुभूति धर्मपरापण व्यक्तियों या भक्तों को प्राप्त होने वाली एक विशेष प्रकार की अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध किसी अलौकिक या दैवीय सत्ता से होता है। धार्मिक अनुभूति ही मनुष्य में धार्मिकता उत्पन्न करके उसे जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रोत्साहित करती है। जब मनुष्य में व्याप्त धार्मिक भावना तीव्र होती है तो फिर वह सृष्टि के कण-कण में, विश्व की प्रत्येक घटना में प्रकृति के मनोरम दृश्यों में ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव करता है।

- धार्मिक अनुभूति में किसी अतीन्द्रिय या दैवीय सत्ता पर निर्भरता होती है तथा उसके प्रति आस्था, श्रद्धा, विश्वास, पूजा की भावना तथा उससे सम्बन्धित धार्मिक गतिविधियों का संपादन होता है। इन्हीं मूल तत्वों के आधार पर धार्मिक अनुभूति अन्य अनुभूतियों से पृथक किया जाता है। वह ईश्वरवादी दार्शनिकों के अनुसार धार्मिक अनुभूति ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण है। इनके अनुसार अनेक धर्म परापण व्यक्तियों को एक विशेष प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है। जिसे ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव कहते हैं। ऐसी अनुभूति के कारण उनके ईश्वर संबंधी विश्वास केवल काल्पनिक न होकर यथार्थ हो जाते है।

7

ईश्वर रहित धर्म

प्र. "धर्म के बिना नैतिकता सम्भव है किन्तु नैतिकता के बिना धर्म सम्भव नहीं है।" विवेचना कीजिए।
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: धर्म और नैतिकता का संबंध मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन से है। धर्म और नैतिकता के संबंध को सम्यक रूप में समझने के लिए धर्म और नैतिकता के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

- प्रस्तुत संदर्भ में धर्म का प्रयोग भारतीय अर्थ में नहीं अपितु पाश्चात्य में प्रचलित सामान्य अर्थ में किया गया है। भारतीय परंपरा में धर्म का आशय स्वकर्तव्य या सदाचार के रूप में लिया गया है।

धर्म और नैतिकता के संबंध में चार प्रकार के संबंध देखे जा सकते हैं-

1. धर्म नैतिकता का पूर्वगामी है अर्थात् नैतिकता धर्म पर आधारित है।
2. धर्म नैतिकता पर आधारित है।
3. नैतिकता धर्म से पृथक एवं स्वतंत्र है।
4. धर्म और नैतिकता एक दूसरे के पूरक हैं।

- धर्म नैतिकता पर आधारित है, इस मत के समर्थकों के अनुसार नैतिकता स्वयं धर्म पर आधारित नहीं है अपितु धर्म ही नैतिकता का अभिन्न अंग हैं। दूसरे शब्दों में नैतिक मूल्यों, आदर्शों, नियमों आदि के आधार पर ही धर्म की कल्पना की जा सकती है। इन मूल्यों एवं आदर्शों से रहित धर्म संभव नहीं है।
- पुन: नैतिक अवधारणाओं एवं प्रत्ययों का अर्थ समझें बिना धार्मिक व्यक्ति ईश्वर को न्यायी, परोपकारी, प्रेमपूर्ण, परम शुभ आदि नहीं कह सकता। धर्म का आविर्भाव ही नैतिकता से होता है। नैतिकता की सम्यक रूपेण व्याख्या के क्रम में ही नैतिक व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर की अवधारणा उभरकर सामने आती है।
- कांट के अनुसार धर्म नैतिकता पर आधारित है। कांट नैतिकता के लिए व्यवहारिक बुद्धि की मांग के अनुरूप धार्मिक मूल्यों एवं विश्वासों जैसे ईश्वर का अस्तित्व, आत्मा की अमरता एवं संकल्प स्वातंत्र्य को स्वीकार करते हैं।
- कांट के अनुसार मनुष्य को उसके शुभ संकल्पों के अनुपात में शुभ का समन्वय ईश्वर ही कर सकता है।
- यहां उल्लेखनीय है कि कांट ने नैतिकता को अप्रतिबंधित और स्वायत्त माना है, परन्तु उन्होंने भी मनुष्य में कर्तव्य की भावना का बढ़ाने के लिए कर्तव्य को ईश्वर की आज्ञा मानकर कर्तव्यनिष्ठ होने की बात की है। नैतिक कर्तव्यों को ईश्वरीय आदेश के रूप में मानने पर इसके पालन में मनोवैज्ञानिक प्रेरणा प्राप्त होती है।
- कांट का स्पष्ट मत है कि- "धर्म देवी आदेशों के रूप में कर्तव्यों की स्वीकृति है"
- इस प्रकार व्यवहारिक दृष्टिकोण से नैतिकता के लिए धर्म मौलिक है, परन्तु आधार के दृष्टिकोण से नैतिकता प्रमुख है।

प्र. शंकर के अद्वैत दर्शन में ब्रह्म की अवधारणा का समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए। क्या शंकर की ब्रह्म की अवधारणा में ईश्वरवाद के लिए कोई स्थान शेष है? विवेचना कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2022)

उत्तर: शंकराचार्य के अनुसार परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है। नानारूपात्मक विकारों का निषेध करने के पश्चात् जिस अविकारी, शाश्वत, नित्य तत्व की प्राप्ति होती है वहीं शंकर के अनुसार सत् या परमार्थ है, वही ब्रह्म है। यह ब्रह्म स्वत: सिद्ध तथा स्वयं प्रकाश्य है।

ब्रह्म के दो रूप हैं- सगुण ब्रह्म एव निर्गुण ब्रह्म। ईश्वर सगुण ब्रह्म कहा जाता है। जब ब्रह्म माया की उपाधि से युक्त होता है तब वह सगुण ब्रह्म कहलाता है। निर्गुण ब्रह्म निर्विशेष, निरूपाधिक एवं निष्प्रपञ्चमय होता है। इस निर्गुण ब्रह्म का केवल निषेध मुख से ही वर्णन किया जा सकता है। निर्गुण ब्रह्म की वास्तविक स्थिति है। ब्रह्म के दो लक्षण हैं- तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण।

तटस्थ लक्षण- यह किसी वस्तु के आगुन्तक धर्म को इंगित करता है। अपने तटस्थ लक्षण में ब्रह्म इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण है। जगत का कारण होना ब्रह्म का औपाधिक गुण है।

स्वरूप लक्षण- स्वरूप लक्षण वस्तु के तात्विक स्वरूप को प्रकाशित करता है। अपने स्वरूप लक्षण में ब्रह्म को सत्य एवं अनंत ज्ञानस्वरूप कहा जाता है। वह सत् चित्त और आनंद से युक्त है। सत्, चित्त और आनंद ब्रह्म के गुण न होकर ब्रह्म के स्वरूप हैं। पुन: ये तीन नहीं हैं, बल्कि तात्विक रूप से एक ही हैं जो सत् है वही चित् है, वही आनंद है और वही ब्रह्म है।

- शंकर ब्रह्म के लक्षण को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। एक गड़ेरिया रंगमंच पर राजा का अभिनय करता है। यहां राजा के रूप में इसका दिखाई देना इसका तटस्थ लक्षण है। स्वरूप लक्षण की दृष्टि से वह गड़ेरिया है। शंकर के अनुसार माया की उपाधि से युक्त ब्रह्म ही ईश्वर है। यह सगुण ब्रह्म की स्थिति है। यही ब्रह्म जगत का कारण है।

8

धर्म एवं नैतिकता

प्र. क्या आप समझते हैं कि धर्म और नैतिकता अवियोज्य हैं? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: भारतीय दर्शन अधिकांश प्रवर्तक धर्म और नैतिकता में भेद नहीं करते। इसका मूल कारण धर्म के अर्थ एवं स्वरूप के संबंध में पाश्चात्य अवधारणा को स्वीकार करना है।

- धर्म और नैतिकता के पारस्परिक संबंध का विवेचन मुख्य रूप से पाश्चात्य दर्शन में हुआ है। इस विवेचना का मूल आधार ईश्वर विषयक विश्वास है। धर्म और नैतिकता के संबंध में चार प्रकार के संबंध देखे जा सकते हैं।

1. धर्म नैतिकता का पूर्वगामी अर्थात् नैतिकता धर्म पर आधारित है।
2. धर्म नैतिकता पर आधारित है।
3. नैतिकता धर्म से पृथक एवं स्वतंत्र है।
4. धर्म और नैतिकता एक दूसरे के पूरक हैं।

- पहले मत के अनुसार नैतिकता का आधार धर्म है। नैतिकता धर्म से उत्पन्न होती है। धर्म नैतिकता से पूर्व एवं पुरातन है। आदिम धर्म में नैतिकता का अभाव था। जब आदिम धर्म का विकास प्राकृतिक धर्म में होता है तो नैतिकता का जन्म होता है। धर्म के अभाव में नैतिकता संभव नहीं है।
- दूसरे मत के समर्थकों के अनुसार नैतिकता स्वयं धर्म पर आधारित नहीं है। अपितु धर्म ही नैतिकता का अभिन्न अंग हैं। दूसरे शब्दों में नैतिक मूल्यों, आदर्शों, नियमों आदि के आधार पर ही धर्म की कल्पना की जा सकती है। इन मूल्यों एवं आदर्शों से रहित संभव नहीं है।
- तीसरे मत के अनुसार नैतिकता धर्म पृथक एवं स्वतंत्र हैं मानववाद नैतिकता की बात करता है परन्तु वह किसी अति प्राकृतिक सत्ता में विश्वास नहीं करता। समाकलीन दर्शन के अनेक अस्तित्ववादी विचारकों, भौतिकवादियों आदि ने भी धर्म के बिना नैतिकता की परिकल्पना की है और इसकी सार्थकता एवं प्रासंगिकता को स्पष्ट किया है।
- अधिकांश विचारकों का मानना है कि धर्म और नैतिकता एक दूसरे के पूरक हैं। धर्म नैतिक मूल्यों आदर्शों नियमों आदि के बिना संभव नहीं है।
- प्रो. एडवर्ड के अनुसार "नैतिकता के बिना धर्म शुष्क एवं निर्जीव सिद्धांतों का संग्रह प्रतीत होता है।" नैतिकता ही धर्म को नियमित, नियंत्रित और संयमित करती है।

प्र. ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लए नैतिक तर्क का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: नैतिक प्रमाण मनुष्य के नैतिक अनुभव पर आधारित प्रमाण है। जिसमें नैतिक कर्तव्य, नैतिक मूल्य, कर्मसिद्धांत आदि की समुचित व्याख्या करने के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। भारतीय दर्शन में गौतम, शंकर आदि एवं पाश्चात्य दर्शन में कांट, मार्टिनों, रैडशल आदि इस प्रमाण के समर्थक है।

- पाश्चात्य दार्शनिक कांट यद्यपि ईश्वर को तार्किक दृष्टि से प्रमाणित करने के प्रयासों का खण्डन करते हैं। फिर भी वे व्यवहारिक बुद्धि की मांग के अनुरूप नैतिकता की पूर्व मान्यता के रूप में ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं।
- कांट के अनुसार नैतिक जीवन की समस्याओं का संतोषजनक समाधान तभी मिल सकता है जब हम नैतिक शासक के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करें।
- कांट यद्यपि कर्तव्य पालन में विश्वास करते है फिर भी वह यह मानते हैं कि मनुष्य को उसके शुभ आचरण के अनुपात में आनन्द अवश्य प्राप्त होना चाहिए। क्योंकि नैतिक दृष्टि से यह मनुष्य का न्यामोचित अधिकार है।

आलोचना

1. कांट का नैतिक प्रमाण वास्तव में कोई प्रमाण नहीं है अत: इसका दर्शनिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं है। वस्तुत: यह तर्क पर आधारित न होकर आस्था पर आधारित है।
2. कांट के नैतिक तर्क में ईश्वर को नैतिकता का साधन माना गया है और स्वयं नैतिकता को साध्य। धर्म की दृष्टि से यह आपत्तिजनक है।
3. यदि शुभ ओर सुख विषमजातीय है तो फिर इनके बीच तर्कत: समन्वय नहीं हो सकता।

प्र. प्रार्थना और उपासना के बीच भेद कीजिए तथा धर्म में उनके स्थान को निर्धारित कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2020)

प्रश्न की मांग: प्रार्थना व उपासना में भेद को स्पष्ट करते हुए धर्म में उनके स्थान को बताइए।

उत्तर: अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर व किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य के सहाय लेने को प्रार्थना कहते हैं।

9

धार्मिक शुचिता एवं परम सत्यता की समस्या

प्र. क्या धार्मिक जीवन प्रणाली में निष्ठावान् प्रतिबद्धता मनुष्य को सामाजिक नैतिकता से पथभ्रष्ट कर देती है? परीक्षण कीजिए। ***(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2019)***

उत्तर: धार्मिक जीवन प्रणाली में निष्ठावान प्रतिबद्धता मनुष्य को सामाजिक नैतिकता से पथभ्रष्ट कर देती है। यह पूर्णत: सत्य नहीं है। क्योंकि नैतिकता का प्रयोग प्राय: मूल्यात्मक अर्थ में किया जाता है।

- जब किसी मनुष्य के कर्मों को नैतिक या अनैतिक कहा जाता है तो फिर उन शब्दों के प्रयोग द्वारा हम उस व्यक्ति के कर्म की प्रशंसा या निन्दा करके उसका मूल्यांकन करते हैं। नैतिकता का उद्‌गम एवं विकास समाज में ही होता है, फलत: इसकी सार्थकता भी सामाजिक सन्दर्भ में ही होती है।
- फलत: इसकी सार्थकता भी सामाजिक संदर्भ में ही होती है। नैतिकता रीति-रिवाजों, प्रथाओं, नियमों, आदर्शों द्वारा मानवीय आचरण का नियमन, मार्गदर्शन तथा मूल्यांकन करने वाली यह सामाजिक व्यवस्था है जिसका लक्ष्य व्यक्ति और समाज दोनों का अधिकतम कल्याण करना है।
- नैतिकता मनुष्य के आचरण के बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों को नियंत्रित करती है।
- भारतीय दर्शन में अधिकांश प्रवर्तक धर्म और नैतिकता में भेद नहीं करते। इसका मूल कारण धर्म के अर्थ एवं स्वरूप के सम्बन्ध में पाश्चात्य अवधारणा को स्वीकार नहीं करना है।
- धर्म और नैतिकता के पारस्परिक संबंध का विवेचन मुख्य रूप से पाश्चात्य दर्शन में हुआ है। इस विवेचना का मूल आधार ईश्वर विषयक विश्वास है।

धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध में चार प्रकार के सम्बन्ध देखे जा सकते हैं-

1. धर्म नैतिकता का पूर्वगामी है। अर्थात नैतिकता धर्म पर आधारित है।
2. धर्म नैतिकता पर आधारित है।
3. नैतिकता धर्म से पृथक एवं स्वतंत्र है।
4. धर्म और नैतिकता एक दूसरे के पूरक है।

- आदिम धर्म का विकास प्राकृतिक धर्म में होता है तो नैतिकता का जन्म होता है। धर्म के अभाव में नैतिकता संभव नहीं हैं।
- नैतिक नियम ईश्वरीय आदेश है, जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। ईश्वर की आज्ञा या निषेध ही शुभ-अशुभ के निर्धारण का मापदण्ड है।

प्र. किन आधारों पर 'है' और 'चाहिए' का विरोधाभास स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है?
(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2014)

उत्तर: धर्म दर्शन के क्षेत्र में जब हम तत्व मीमांसीय सत्ता या कथनों का वर्णन करते हैं तो आनुभविक व आर्दशिक दो बातों का समावेश होता है। आनुभविक कथन 'है' का वर्णन करते हैं तो 'चाहिए' आदर्श का। तत्व मीमांसीय सत्ता के संबंध में जब हम बात करते हैं जैसे ईश्वर को ही ले तो कुछ इसे अनुभवातीत कहते हैं तो कुछ विश्व में व्यवस्था, गति आदि के आधार पर इसका अनुभव करते हुए कहते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व होना चाहिए। दोनों में कोई आंतरिक विरोध नहीं है अपितु दोनों विश्वास की दो कोटियां, दो स्तर हैं। दूसरी विचारधारा वास्तविकता एवं नैतिकता को लेकर है। 'है' का संबंध वास्तविकता से है जबकि 'चाहिए' का संबंध नैतिकता से।

- है और चाहिए का विरोधाभास मुख्यत: अशुभ की समस्या के संदर्भ में देखा जा सकता है। जैसे यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो विश्व में अशुभ नहीं होना चाहिए। किंतु हम अपने अनुभव से जानते हैं कि विश्व में अशुभ विद्यमान है।
- इस विरोधाभास को समाप्त करने हेतु ईश्वरवादी अनेक तर्कों का सहारा लेते हैं जैसे- साधनतावादी, समाधान, संकल्प स्वतंत्रता पर आधारित समाधान, शुभत्व की प्राप्ति की दृष्टि से, नैतिक दृष्टि से आदि लेकिन कोई भी प्रयास इस विरोधाभास को दूर करने में सफल नहीं हो पाया।
- है और चाहिए का विरोधाभास कोई निरपेक्ष विरोध नहीं है अपितु ये वैचारिक साम्यता एवं विभिन्नता पर निर्भर है। वैसे भी तत्वमीमांसा ज्ञान या तर्क का नहीं अपितु श्रद्धा एवं आस्था का विषय है।
- इसमें व्याप्त विरोधाभास को स्वीकार या अस्वीकार करना पूर्वतया आत्मनिष्ठता का प्रश्न है वास्तविकता का नहीं।

प्र. इस धारणा की चर्चा करें जिसके अनुसार धार्मिक सिद्धांत 'छद्म-वैज्ञानिक' सिद्धांत न होकर जीवन शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2011)

उत्तर: प्रस्तुत धारणा उत्तरवर्ती विट्‌गिन्स्टाइन का है। इसकी चर्चा उन्होंने अपनी पुस्तक लैक्चर्स कन्वर्सेशन ऑन ऐस्थेटिक्स, साइकॉलॉजी एंड रिलीजियस विलीफ में की है। धार्मिक सिद्धांत के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलत: भाषा के उपयोग सिद्धांत पर आधारित है।

10

धार्मिक भाषा की प्रकृति

प्र. धार्मिक भाषा सम्बन्धी असंज्ञानात्मक सिद्धान्त क्या है? आर. बी. ब्रेथवेट के विचारों के आलोक में आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। ***(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)***

उत्तर: समकालीन धर्म दर्शन में धार्मिक भाषा की असंज्ञानात्मक व्याख्या करने की प्रवृत्ति काफी मजबूत रही है। ए.जे एयर, जॉन विस्डम, एन्टोनी फल्यू, आर.बी. ब्रेथलेट ने धार्मिक भाषा की असंज्ञानात्मक व्याख्या ही की है। संक्षेप में, इन सबके अनुसार धार्मिक भाषा तथ्य परक नहीं होती है और तथ्यपरक तर्कवाक्यों की तरह उनके सत्य या असत्य हाने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

- अगर धार्मिक कथन तथ्य संबंधी, तर्कवाक्य नहीं है तो क्या है? जिन दार्शनिकों ने धर्मशास्त्रीय कथनों को असंज्ञानात्मक माना जाता है उन्होंने इसके स्वरूप की अलग-अलग व्याख्याएं की है। विलियम पी. अल्स्टन के अनुसार इन व्याख्याओं निम्न वर्गों में रखा जा सकता हैं-

i) **भावनात्मक व्याख्या:** धर्मशास्त्रीय कथनों की व्याख्या यह कह कर की गई है कि इनके द्वारा धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं के संदर्भ में उठने वाली भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है।

ii) **प्रतीकात्मक व्याख्या:** धार्मिक भाषा की प्रतीकात्मक व्याख्या काफी समय से की जा रही है लेकिन परंपरागत रूप से धार्मिक भाषा की प्रतीकात्मक व्याख्या के अन्तर्गत धार्मिक भाषा के एक भाग को ही प्रतीकात्मक माना गया है।

iii) **कर्मकांडीय व्याख्या:** इस मत के अनुसार ईश्वर के बारे में दिए जाने वाले वक्तव्यों का कोई भी अर्थ पूजा की विधि के अंग के रूप में ही होता है। अगर हम "ईश्वर ने स्वर्ग और पृथ्वी बनायी है" जैसे किसी वाक्य को इसके कर्मकांडीय सन्दर्भ में अलग कर देते है और फिर उसके बाद उसकी सत्यता या असत्यता पर विचार करते है तो हम उलझन में पड़ जाते हैं लेकिन इन वाक्यों का उद्देश्य विश्व की व्याख्या करना नहीं है बल्कि कुछ और है। जैसा कि अल्स्टन ने ध्यान दिलाया है। इस मत के साथ कठिनाई यह है कि इस मत के समर्थक इस बात का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते कि वह 'कुछ और' क्या है।

प्र. पॉल टिलिच के विशेष सन्दर्भ में धार्मिक भाषा के प्रतीकात्मक स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021)

उत्तर: पॉल टिलिच के विचार में एक महत्वपूर्ण तत्व धार्मिक भाषा की 'प्रतीकात्मक' प्रकृति का उनका सिद्धांत है। टिलिच एक चिह्न और एक प्रतीक के बीच अंतर करते हैं। दोनों अपने से परे किसी और चीज की ओर इशारा करते हैं लेकिन एक संकेत यह दर्शाता है कि यह मनमाने ढंग से परंपरा द्वारा इंगित हैं उदाहरण स्वरूप- जब सड़क के किनारे लाल बत्ती यह संकेत देती है कि ड्राइवरों को रुकने का आदेश दिया गया है। इस विशुद्ध रूप से बाहरी संबंध के विपरीत एक 'प्रतीक' उसमें भाग लेता हैं

- टिलिच का मानना है कि धार्मिक विश्वास, जो कि परम के बारे में अंतत: चिंतित होने की स्थिति है केवल प्रतीकात्मक भाषा में ही व्यक्त किये जा सकते हैं। हम उसके बारे में जो कुछ भी कहते हैं जो अन्तत: हमे चिंतित करता है चाहे हम इसे भगवान कहे या नहीं इसका प्रतीकात्मक अर्थ है।
- टिलिच के अनुसार, एक ओर केवल एक शाब्दिक, गैर-प्रतीकात्मक कथन है जिसे परम वास्तविकता के बारे में बनाया जा सकता है। जिसमें धर्म कहता है कि ईश्वर स्वयं है। इसके अतिरिक्त सभी धार्मिक कथन-जैसे-ईश्वर शाश्वत, जीवित, अच्छा व्यक्तिगत है, ईश्वर सृष्टिकर्ता है और ईश्वर सभी प्राणियों से प्यार करता है। प्रतीकात्मक है।
- टिलिच की धार्मिक भाषा के प्रतीकात्मक चरित्र की अवधारण ा उनके कई केन्द्रीय विचारों की तरह दो विपरीत दिशाओं में विकसित हो सकती है। इसे टिलिच ने अपने लेखन में इस तरह प्रस्तुत किया है कि इसकी अस्पष्टता को संरक्षित किया जा सके।

प्र. क्या यह स्वीकार्य है कि धर्मों का इतिहास संघर्षों का इतिहास है? विवेचना कीजिए। ***(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2020)***

प्रश्न की मांग: धर्म और उसके लिए होने वाले संघर्ष की प्राचीनता को समझातें हुए, दोनों के इतिहास में साम्यता दिखाना है।

मानव इतिहास में जितना धार्मिक समूहों को दमन, प्रताड़ना मिली है उतना किसी अन्य समूहों को नहीं मिली है। धर्म के नाम पर संघर्षों ने न केवल पूरब के देशों को बल्कि पश्चिमी देशों को भी नष्ट किया है। परन्तु यह आश्चर्य है कि इन सभी संघर्षों में धर्म का कहीं नामों निशान नहीं था। धर्म की उत्पति के कारणों की व्याख्या में ही धर्म के स्वरुप छिपे हैं जो कि सद्भाव की कामना करने वाले हैं। प्राचीन समय में जब लोगों के सामने ऐसे प्रश्न आये कि, जीवन क्या है? संसार में हमारा क्या कार्य है?